गर्व से कहो
हमारी बेटियां हैं

गर्व से कहो
हमारी बेटियां हैं

भारत ज्ञान विज्ञान समिति

नव जनवाचन आंदोलन

इस किताब का प्रकाशन भारत ज्ञान विज्ञान समिति ने
'सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट' के सहयोग से किया है।
इस आंदोलन का मकसद आम जनता में
पठन-पाठन संस्कृति विकसित करना है।

गर्व से कहो हमारी बेटियां हैं — **Garva Se Kaho Hamari Betiyan Hain**

संपादक विष्णु नागर — ***Editor*** Vishnu Nagar

कॉपी संपादक राधेश्याम मंगोलपुरी — ***Copy Editor*** Radheshyam Mangolpuri

ग्राफिक्स अभय कुमार झा — ***Graphics*** Abhay Kumar Jha

रेखांकन मनोज पंडित, रौशन कुमार, महेश मंगलम, राजीव कुमार — ***Illustrations*** Manoj Pandit, Roushan Kumar, Mahesh Mangalam, Rajeev Kumar

कवर अनु — ***Cover*** Anu

प्रथम संस्करण फरवरी 2008 — ***First Edition*** February 2008

सहयोग राशि 25 रुपये — ***Contributory Price*** Rs. 25.00

मुद्रण अवनीत ऑफसेट प्रेस नई दिल्ली — ***Printing*** Avneet Offset Press New Delhi

साभार : कादम्बिनी (मासिक पत्रिका), दिल्ली

Publication and Distribution

Bharat Gyan Vigyan Samiti

Basement of Y.W.A. Hostel No. II, G-Block, Saket , New Delhi - 110017

Phone : 011 - 26569943, Fax : 91 - 011 - 26569773

Email : bgvs_delhi@yahoo.co.in, bgvsdelhi@gmail.com

BGVS FEB 2008 2K 2500 NJVA 0115/2008

विषय-सूची

1.	बेटा संस्कार है और बेटी संस्कृति	राजेन्द्र यादव	6
2.	पारस पत्थर होती है बिटिया	कमलेश्वर	10
3.	अगले जन्म मोहे बिटिया ही कीजो	पद्मा सचदेव	14
4.	लड़के की कमी नहीं खलती	विश्वनाथ त्रिपाठी	18
5.	मेरे सपनों की प्रतिरूप हैं मेरी बेटियां	मैत्रेयी पुष्पा	22
6.	मैं बेटी के कारण ही मानवीय बना	पंकज बिष्ट	26
7.	बेटी के जन्म की बात सुन मैं उछल पड़ा था	प्रयाग शुक्ल	31
8.	बेटियां बाद में सहेलियां बन जाती हैं	अर्पिता सिंह	37
9.	बेटी का जन्म और भील का मांदल	राजेश जोशी	40
10.	बेटियां : हमारे जीवन की दीप्तियां	सविता सिंह / पंकज सिंह	45
11.	मेरी छोटी मां है कुंजम्मा	कुबेर दत्त	48
12.	उसने कभी मुझे उदास नहीं होने दिया	रूपा वाजपेयी	52
13.	बेटे होने का कभी अफसोस नहीं हुआ	तेजिन्दर पॉल अग्रवाल	56
14.	जवान लड़की का पिता होना (कविता)	नरेंद्र गौड़	59

गर्व से कहो
हमारी बेटियां हैं

देश के बहुत बड़े हिस्से में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का घटता अनुपात इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में अभी भी सामान्यत: लड़कियों के जन्म को अच्छा नहीं माना जाता है। उन्हें अभी भी अभिशाप माना जाता है। लेकिन क्या सचमुच बेटियां अभिशाप हैं? हमने अपने समाज के कुछ उन संवेदनशील रचनाकर्मियों से इस बारे में बात की जिनकी सिर्फ बेटियां हैं। उन्हें इस बात का कोई गम नहीं है कि वे एक बेटी या कई बेटियों के माता-पिता हैं। उन्हें अपनी बेटियों पर गर्व है, बेटी का माता-पिता होने पर उन्हें गर्व है। उन्हें अपनी बेटियों से जो प्यार, स्नेह और आदर मिला है, उन्हें नहीं लगता कि ऐसा उन्हें कभी अपने बेटों से मिल सकता था।

बेटा संस्कार है और बेटी संस्कृति

राजेन्द्र यादव (वरिष्ठ कथाकार)

हमारी एक ही बेटी है। नाम है रचना। जहां तक मैं याद कर पा रहा हूं, मुझे कभी एक क्षण भी इस बात की कमी महसूस नहीं हुई कि वह बेटी न होकर बेटा क्यों न हुई? हालांकि हमारे हजारों साल के संस्कार यही कहते हैं कि बेटे के बिना सद्‌गति नहीं है। मनुष्य 'पुं' नाम नरक में सड़ता है। मुझे यह बात आज के जमाने में बहुत मूर्खतापूर्ण और अवैज्ञानिक लगती है। नहीं जानता, यदि रचना की जगह बेटा होता तो वह मेरे किस काम आता? आज के समय की प्रारंभिक पढ़ाई-लिखाई उसे इतना अधिक व्यस्त रखती कि शायद मां-बाप के साथ कोई संवाद ही नहीं बना पाता। इसके बाद वह अगली शिक्षाओं के लिए किसी दूसरे शहर या हॉस्टल में चला जाता। फिर बाद में नौकरी या अन्य किसी उद्यम में लगकर दूर रहने लग जाता। अब सारी प्रक्रिया में आज के जीवन में बेटे की जगह कहां है? अक्सर ही बाप-बेटे के बीच संवाद की स्थिति नहीं रहती। अगर वह या उसकी पत्नी मेरे साथ भी रहती या मां-बाप के यहां जाकर रहने लगते, तब भी अशांति का एक माहौल बना रहता। दोनों एक-दूसरे के लिए अवांछनीय ही होते। बेटे के साथ किसी प्रकार की भावनात्मक निर्भरता की कोई कल्पना नहीं कर सकता। हां, आस-पास न जाने कब से हम यही सुनते रहे हैं कि बेटा होना जरूरी है। एक बार मेरी बहन ने कहा, "शुक्र मनाओ, आपकी बेटी है, बेटा नहीं। बेटा होता तो अपने विद्यार्थी जीवन से ही समस्याएं खड़ी करता। मालूम हुआ कि कभी

किसी का सिर फोड़कर आ रहे हैं या बांहें तुड़वाकर घर पड़े हैं। रोज एक न एक झमेला बना रहता। आप हमेशा परेशान रहते कि कहीं वह गलत संगति में तो नहीं पड़ गया। आगे उसके स्कूल-कालेज में भर्ती कराने, पास कराने, नौकरी दिलाने में आपके सिर के बाल और जूते दोनों घिस जाते।''

यदि एक से अधिक बेटे होते तो मैं धृतराष्ट्र होता और घर में महाभारत की कथा···। मैंने शायद ही कोई बाप-बेटे देखे हों, जहां संबंध नि:स्वार्थ भाव से आत्मीय हों। उनके बीच हमेशा 'अहं' की

टकराहटें बनी रहती हैं। बाप जिंदगीभर बेटे के लिए जमीन-आसमान एक करता रहता है और अगर बेटा देश में हुआ तो जाने-अनजाने प्रतीक्षा करता है कि बाप कब उसे 'मुक्त' करे। भारतीय समाज के सारे भ्रष्टाचार बच्चों यानी बेटे के नाम पर ही किए जाते हैं- दहेज से लेकर घूस, हत्या तक। अरविंद जैन की तो किताब का नाम ही है- *उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार।* बेटी को लेकर आप संवेदनशील और भावुक होते हैं जबकि बेटा प्रतिस्पर्धा, गर्व या शर्म जगाता है। सारे बापों की रामकथाएं बेटों के बाप के खिलाफ खड़े होने को लेकर ही हैं। बाप बेटे को नायक के रूप में देखना चाहता है, इसलिए बेटे के लिए बाप खलनायक ही होता चला जाता है; क्योंकि वे स्वयं नहीं बल्कि बीच में संपत्ति नाम का तीसरा तत्व उनके आपसी संबंध तय करता है।

बेटी एक भावनात्मक सहारा है। खासतौर से रचना ने हमारे लिए कोई समस्या खड़ी नहीं की। छह-सात साल की उम्र में उसे मैं *क्वीन मेरी स्कूल* में भर्ती कराने ले गया और उसके बाद वहां कभी नहीं गया– न स्कूल में और न कालेज में। सभी कुछ उसने अपने बलबूते पर संभाला। हर जगह वह पढ़ने-लिखने में तेज और हैड गर्ल बनी रही। शायद उसे बचपन में ही मालूम हो गया था कि उसके मां-बाप किताबी और निकम्मे लोग हैं, जो कुछ भी करना है उसे अपने बूते ही करना है। उसने *हिंदू कालेज* से बी.ए. और उसके बाद मास कम्युनिकेशन से पब्लिक रिलेशन और विज्ञापन का कोर्स किया और एवरेस्ट जैसी बड़ी कंपनियों में ऊंचे और जिम्मेदार पदों पर रही। घर आनेवाले उसके दोस्त बन गए। बाद में दो-एक छोटे-मोटे प्रेम-प्रसंगों के बाद शादी भी उसने स्वयं की और अपना स्वतंत्र व्यवसाय भी स्थापित किया।

आज उन लोगों के पास दो बेटियां हैं। अपना घर है। नृत्य-संगीत के अपने शौक को पूरा करने की लगन है। दिनेश खन्ना खुद देश के अत्यंत नामी फोटोग्राफरों में से एक हैं, जिनके दो बड़े एलबम *बाजार*

और *लिविंग फेथ* नाम से हार्पर कालिंस से आ चुके हैं। उनके विमोचन (लांचिंग) के समय वह अमेरिका के चार बड़े शहरों में मुख्य-अतिथि की तरह हीरो बन आया है।

इस सबके साथ-साथ बेटी हमेशा मेरे स्वास्थ्य और गतिविधियों पर बेहद सख्त नजर रखती है। रोज मुझसे, किशन और कमल से जानकारियां लेती रहती है। मुझे और उन लोगों को डांटती है कि वे मेरे खाने-पीने पर नियंत्रण क्यों नहीं रखते या मैं अपने स्वास्थ्य को लेकर इतना लापरवाह क्यों हूं? मैं नहीं समझता कि अगर बेटा होता तो वह मेरी इतनी चिंता या देखभाल करता। मेरे अनेक मित्र हैं जिनके पास बेटा या पुत्र-वधू हैं और मैं जानता हूं कि वे सब बेहद दु:खी, अकेले और असहाय हैं। शायद किसी गंभीर घटना के समय ही वे उपस्थित होने का दबाव महसूस करें, वर्ना न आना-जाना है और न बातचीत। ऐसे में बताइए कि बेटे के होने पर ज्यादा अकेला होता या अब हूं ? बेटे के बाप को मुक्ति मिलती है या नहीं, मगर शायद हमारी पीढ़ी से ही बाप को बेटे से मुक्ति की परंपरा शुरू हो रही है– हो सकता है, संस्कार कुछ समय और पीछा करें··· मन होता है कि कहूं– बेटा संस्कार है और बेटी संस्कृति। ❐

पारस पत्थर होती है बिटिया

कमलेश्वर (प्रसिद्ध कथाकार)

मेरी एक ही बेटी है। घर में हम उसे मानू पुकारते हैं। वह अपना पूरा नाम ममता कमलेश्वर लिखती थी। शादी के बाद वह ममता त्यागी हो गई। उसकी शादी दुष्यंत कुमार के देहांत के बाद उनके बड़े बेटे आलोक त्यागी से हुई है। अब उसकी दो संतानें हैं, बेटा अनंत त्यागी, जो बड़ा है और बिटिया मिंटी, जिसका पूरा नाम मनुजा त्यागी है।

हमारे वंश में लड़कियों की बहुत कमी रही है। हम खुद सात भाई थे, बहन एक भी नहीं थी। मैं घर का सबसे छोटा बेटा था। मां मुझसे लड़कियों की तरह काम लेती थीं। कहती थीं कि लड़के तो किसी काम के नहीं होते। मैं मां के साथ घर में मसाले कूटने-पीसने, अचार डलवाने, खाना बनाने-जैसे सभी कामों में हाथ बंटाया करता था। यहां तक कि नीम की सूखी तीली के साथ मैं मगौड़ी भी तोड़ा करता था। सफेद पेठे की बड़ियां भी बनाता था। तीज-त्यौहार पर सेव, पपड़िया, मठरी, सांकें, गुझियां, समोसे, चटनी और सोंठ बनाने में भी मां का साथ देता था। जरूरत पड़ती थी तो बूंदी भी तैयार करता था। लड्डू बनाने हुए तो एक या दो तार की चाशनी भी तैयार कर लेता था। मुहावरा तो अलग है, पर सचमुच मैं मां के साथ पापड़ भी बेलता था। जरूरत पड़ती तो उखली में दालें भी छर लेता था। गांव से गन्ने का रस आता तो सिरका बनाने के लिए मटके में थोड़ा-सा नौसादर और लोहे का टुकड़ा डालकर मटके का मुंह लोई से बंद करके, रसोईघर

के टांड़ पर रखी भूसे की नांद में पकने के लिए रख देता था। अम्मा ने बटन टांकना और वक्त-जरूरत तुरपाई करना भी सिखा दिया था। उन्हें घर में लड़की न होने का मलाल बहुत था। वे कहती थीं– लड़की के बिना घर, घर नहीं सराय होता है। लड़की के बिना घर में रौनक नहीं होती।

इसीलिए जब हमारे घर में बड़े भाई साहब की पहली लड़की मुन्नी हुई तो घर-परिवार में बड़ा उत्सव मनाया गया। लड़की होने की खुशी में ढोलक पर गीत गाए गए, बुलावे भेजे गए, दावतें दी गईं। लगभग यही मानू के पैदा होने पर भी हुआ। मानू मैनपुरी में ही पैदा हुई, दलित दाई के हाथों ने ही उसे धरती पर उतारा। क्या यह हमारे वर्णवादी समाज की विडंबना नहीं है कि उच्चवर्णी ब्राह्मणवादियों, क्षत्रियों और वैश्यों को भी मां की कोख से दलित वर्ग की दाइयों ने

ही अपने हाथों में संभालकर जीवन की परंपरा को जीवित रखा है ? बाद में यही काम ईसाई दाइयों-नर्सों ने किया है। मैं नहीं जानता कि आज की किसी भी ब्राह्मणधर्मी सनातनी और सवर्णवादी संतान को उसी के वर्ण की दाई ने धरती पर··· तो खैर···। मानू के जन्म के बहाने यह जरूरी बात कहने का मुझे मौका मिल गया। मानू मेरी और गायत्री की एकमात्र संतान है। हमें कभी लगा ही नहीं कि हमारे बेटा नहीं है। बेटे की जरूरत एक सनातनी और पौराणिक वर्णवादी जरूरत है। यह अब पूरी तरह नहीं तो भी लगभग बेमानी हो चुकी है।

आज के बदले हुए आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में लड़कियां-बेटियां अब एक ऐसी सच्चाई हैं, जो हमें अधिक सहज और उदात्त मूल्य देती हैं। अपनी बिटिया मानू की उपस्थिति को लेकर अब मैं सोचता हूं तो एहसास होता है कि उसने मुझे हर तरह के

अतिरेक से बचाया है। उसके नैसर्गिक अधिकार और उसके भावनात्मक आकर्षण ने मुझे लगातार घर-परिवार की ओर उन्मुख रखा है। हमने किशोरावस्था तक तो उसकी देखभाल जरूर की, पर *सेंट जेवियर्स मुंबई* के बी. ए. आनर्स में पहुंचते ही वह मेरी और गायत्री की अंतरंग मित्र बन गई। तब से मानू के साथ हमारी बड़ी गहरी दोस्ती चली आ रही है। शायद इसका एक कारण यह भी है कि उसे हमारा और हमें उसका एकांतिक और अविभाजित स्नेह मिला है। लेखक के रूप में मेरी जिंदगी खासी बहुआयामी रही है। मैंने फिल्म और टी.वी. जैसे ग्लैमरस माध्यमों में बरसों काम किया है। मानू ने वह दुनिया भरपूर देखी है। थोड़ा-सा यश मिलते ही वहां प्रशंसिकाओं और यत्किंचित प्रेमिकाओं की बाढ़ आ जाती है। बहुत ही सच्चे, शालीन और संस्कारशील तरीके से मानू ने उस बाढ़ को जैसे संभाला, वह एक नितांत अंतरंग मित्र ही कर सकता था। मैं नहीं समझता कि कोई बेटा अपने पिता का इतना समझदार दोस्त हो सकता है और अपने पिता के साथ इतना निस्पृह रिश्ता निभा सकता है। यह कोई बिटिया ही कर सकती है। अधिकांश बेटे यशभोगी होते हैं, लेकिन बेटियां अधिकांशतः अपने अर्जित यश की कामना करती हैं। मैंने मानू से एक बार कहा था, "क्या-तुम मेरे साथ अपना कैरियर तलाशना चाहोगी?" तो उसने बहुत ही व्यावहारिक उत्तर दिया था, "पापा, आपके साथ कैरियर शुरू करूं, तब भी चार-पांच साल बाद मुझे शादी करनी होगी। तो क्या यह बेहतर नहीं होगा कि मैं आपके साथ कैरियर न तलाश कर, जिसके साथ मैं शादी करूं, उसके साथ अपना कैरियर शुरू करूं?"

सोचता हूं तो लगता है कि हमारी बिटिया मानू ने हमें तरह-तरह से पूरा किया है। अपना भरा-पूरा सुखी परिवार और अपने पति आलोक के साथ अपना मित्र-समाज स्थापित करके मानू ने अपनी सभ्यता की पारिवारिक संस्कृति को प्रगाढ़ बनाया है और फिर इस उम्र में हमें अनंत और मिंटी-जैसे शालीन और जहीन बच्चे देकर भविष्य का एक और सपना सौंप दिया है। ❐

अगले जन्म मोहे बिटिया ही कीजो

पद्मा सचदेव (डोगरी कवयित्री)

इस दुनिया में अभी भी जो कुछ असली, सुंदर व बिना मिलावट के बचा है वो है बच्चे का पैदा होना, उसकी मुस्कुराहट और उसका पहली बार खड़े होकर एक-दो कदम उठाना। हर बार बच्चा पैदा हुआ, बैठा, लटका, खड़ा हुआ, चला, हर बार ये चाव वैसा ही खिला जैसे इस धरती पर आनेवाले पहले बच्चे के समय खिला था। जिनके घर बच्चा पैदा होता है, उनके उछाह के क्या कहने ! सदियों से पहली बेटी की आवभगत भी ठीक-ठाक रहती है। डोगरी में एक कहावत है-

अयै नार सलक्खनी, जिन्न पहलैं जाई लच्छमी।

(वही सुलक्षणा स्त्री है जिसने पहली बेटी को जन्मा हो।) ऐसे में जब दीये की लौ में पहली बार आंख जरा-सी खोलते ही बच्चा आंख मींच लेता है तो दीये के आगे हाथ रखकर मां अंधेरा करती है, ताकि उसकी आंखें देख सकें। बच्चा भी पहले मिंची-मिंची आंखों से मां को ही देखकर अंगड़ाई लेता है।

जब तक मेरी सास जीवित थीं, घर में बच्चे का न होना कभी खला नहीं। वो घर की मां भी थीं और बेटी भी। उनके जाने के बाद ही लगा, घर में एक बच्चा भी होना चाहिए। जब वो जीवित थीं, मुझसे कभी-कभी कहतीं, "देखो, अभी तुम्हारी बेटी मेरी चारपाई के गिर्द चक्कर काट रही थी।" उन्होंने कभी बेटा नहीं कहा, इसलिए उनके जाने के बाद मेरी बेटी ही पैदा हुई।

जब इसे पैदा होना था तो मेरी मां कहती, एक ही बच्चा अगर होना है तो बेटा होना चाहिए। मैं और मेरे पति हमेशा बेटी मांगते। उधर मेरी मां ने वैष्णो देवी, पंजपीर, महामाया, बाहू की माता, मोटे शिवजी का मंदिर, दरगाह, गुरुद्वारा सब जगह मन्नतें मांगी। मेरी पद्मा को बेटा देना। मन्नतों की इस रस्साकशी में जब मेरी बेटी पैदा हुई, तब मेरी मां खुश तो हुई कि वह नानी बन गई है, पर मुझसे बहुत नाराज होकर उसने चिट्ठी लिखी- "भई, बात ये है कि तुमने और तुम्हारे सरदार ने मुझसे ज्यादा मन्नतें मांग लीं, इसलिए बेटी हो गई। मैं बहुत नाराज हूं। चलो कोई बात नहीं। मैं नानी तो हो गई, पर बात बड़ी गलत है।"

जब मां, बेटी के नामकरण पर आई तब छोटी-सी रजाई बनाते वक्त न उस पर चांदी की घुंघरिया लगाना भूली और न ही उसके

भीतर थोड़ा ढीली करके इत्र की बोतल रखना ही। कहने लगी– इसको रजाई में से धीमी-धीमी खुशबू आती रहेगी। मीता को मीतू कहती और गोद में रखकर सुहाग गाती रहती–

लाडली नीं रक्ख बाबला
तेरी लाडली दे दिन थोड़े
लाडली में ईयां रक्खी ऐ
जियां कागदै बिच्च ए सुन्ना।

(बाबुल बेटी को लाडली न रखो। तेरी लाडली के दिन थोड़े हैं। बाबुल कहता– लाडली मैंने ऐसे रखी है जैसे कागज में सोना रखते हैं।)

बाप हमेशा बेटियों को ज्यादा प्यार करते हैं। मैं तो एक साल तक घर से बाहर नहीं निकली। आकाशवाणी से एक बरस छुट्टी ले ली। जब सरदारजी रियाज करते तो वो इन्हीं के पास बैठती। तबलेवाला इसे चम्मच से चाय पिलाता था।

मेरी बेटी को पहली बार गोद में लेकर मां निहाल हो गई। उसने अपने दोनों बेटों को फरमान जारी कर दिया–

"देखो भई, मेरी एक ही नवासी है। इसे मैं बड़ी-सी शिंगारपुरी नथ दूंगी। अभी से उसके लिए पैसे जोड़ने शुरू कर दो। ऐसा भात देना कि बिरादरी में शोर मच जाए।" मां मुझसे कहती, "ऐ लड़की, सरदारजी से कहकर इस यमदूत की शादी जल्दी करवा देना। बहुत पैसे जोड़ रही हूं। कभी खर्च भी हो जाते हैं।" मेरी मीता जब सैन फ्रैंसिस्को में फिल्म बनाने का डिप्लोमा लेने गई तो मां नाराज हो गई, पर बाद में कहती– "जब इसकी फिल्म आएगी तो मुझे जरूर दिखाना।" मेरी ससुराल में मीता के ताया, ताई, बुआ सब लोगों ने बहुत चाव किया।

असल में ऐसा है कि लड़के तो गलियों-बाजारों में पल जाते हैं पर आंगन, घर, द्वार, दालान तो बेटी ही गुलजार करती है। जितना मोह बेटी को मायके से होता है, उतना बेटों को नहीं होता। एक कहावत है–

खाना ससुरालवालों का, गुण गाने मैके के।

आज के युग में लोगों को इस बात की समझ आ गई है कि बेटियों-जैसा मोह कोई नहीं करता। मेरी बेटी अमेरिका में रह सकती थी। उसे वहां काम भी मिल रहा था, पर उसने कहा, "मैं अपने बूढ़े मां-बाप के लिए भारत जा रही हूं। भगवान करे जब तक हम बूढ़े हों, ये ससुराल चली जाए।"

पहले जब घर में बेटी पैदा होती थी, मांएं उसके लिए हर नया कपड़ा, नया बर्तन सहेजकर रख देती थीं। आज स्थिति बदल चुकी है। बेटियां लाख कहें, मुझे अभी शादी नहीं करनी – मां की आंखों में होनेवाले दामाद की सूरत बदल-बदलकर आती रहती है।

जब हिंदी की प्रख्यात लेखिका शिवानी जी की मृत्यु हुई तो उनका बेटा विदेश में था। बेटियों ने जिस तरह शिवानी दीदी को गुड़िया की तरह सजाकर लिटाया हुआ था, मैंने मन में सोचा, ये सिर्फ बेटियां कर सकती हैं। आज जमाना स्त्री के प्रति उदार हो गया है। बेटे की आशा में मां-बाप, बेटियों की लंबी कतार नहीं लगाते। दो हैं तो बस। मेरे पति तो कहते हैं, "हमारी बेटी तो 'टू इन वन' है।"

मैं कहती हूं, "भगवान बेटे तो दे, पर बेटी जरूर दे ताकि घर-आंगन महकता रहे।"

चाहे बेटियों के ससुराल जाने से बैठकें सूनी हो जाती हैं तो भी उनके ससुराल से उनकी कुशल-क्षेम आने से, उनके बच्चों के चाव से घर महकता रहे। मां-बाप का जितना ध्यान बेटियां रखती हैं, उतना बेटे नहीं। बेटी को बड़ा करना एक संस्कृति को बड़ा करना है। मैं तो बेटी से पूरी भर-भर गई हूं और कहती हूं-

"अगले जनम मोहे बिटिया ही कीजो।" ❐

लड़के की कमी नहीं खलती

विश्वनाथ त्रिपाठी (प्रसिद्ध आलोचक एवं कवि)

मैंने पिता को बड़ी बहन की शादी के लिए परेशान होते देखा था। वे बहन की अच्छी शादी नहीं कर पाए थे। दूसरों को भी लड़की की शादी के लिए परेशान होते बहुत देखा था। बचपन में मैं सोचता था, "भगवान ने कितना अच्छा किया कि मुझे लड़का बनाया। लड़की बनाता तो मुझे घर छोड़ना पड़ता। बहुत काम करना पड़ता।" सबसे ज्यादा परेशानी मुझे यह देखकर होती कि औरतों को बच्चा पैदा करना पड़ता है। मेरी बड़ी बहन प्रसव-वेदना में मर गई थी।

मेरी कुल चार संतानें हुईं। दो लड़के, दो लड़कियां। लड़के नहीं रहे। लड़कियां बच गईं। हम दोनों पति-पत्नी तो उन्हें प्यार करते ही थे, लेकिन मुझे यह देखकर लगभग आध्यात्मिक आनंद मिलता कि वे मेरी बहुत चिंता करती हैं। मेरे कपड़ों, खाने-पीने का वे बहुत ख्याल रखतीं। वे ध्यान रखतीं कि मुझे उनके ऊपर ज्यादा पैसा न खर्च करना पड़े। यह सब क्यों और कैसे था- मेरे लिए अभी भी रहस्य बना है! शायद वे महसूस करती थीं कि बाबूजी को (वे मुझे बाबूजी कहती हैं- 'पापा' कहने को मैंने शुरू से ही मना कर दिया था) ज्यादा पैसा कमाना नहीं आता है। मैंने अपनी लड़कियों पर बहुत कम पैसा खर्च किया है। गांव में मां-बाप को पैसा भेजना पड़ता था। पैसे मेरे पास बचते ही नहीं थे। बच्चों को कपड़े वगैरह का शौक हुआ ही नहीं। मैं उन पर कभी-कभी बहुत गुस्सा करता। कभी-कभी पीटता भी। पीटने के बाद मैं उन्हें पकड़कर रोता। डांटने या पीटने के बाद उन्हें मिठाई खिलाता। ज्यादा गुस्से में होतीं तो देर तक मनाना पड़ता। एक दिन बड़ी लड़की ने मेरे गुस्से का विश्लेषण किया- "मैं समझ गई, आपको एकाएक गुस्सा क्यों आ जाता है। आप कुछ सोचते रहते हैं और हम इसी बीच जोर से बोलने या आपस में झगड़ा करने लगती हैं तब

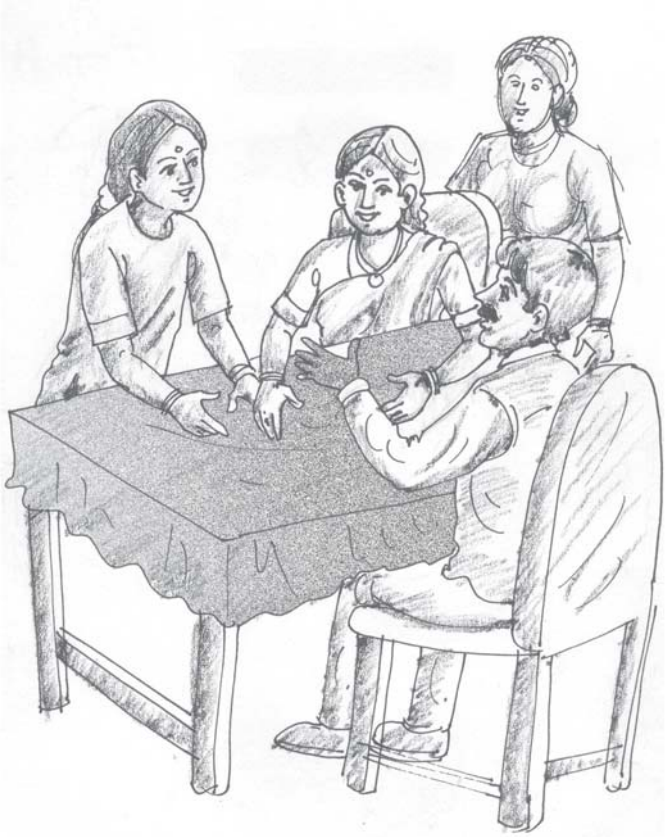

आपको डिस्टर्ब होता है।" कैसा लगा, क्या कहूं- "धन्य मैं पिता निरर्थक था कुछ भी तेरे हित न कर सका।" याद आया।

मेरी दोनों बेटियों की शादी अनायास बिना दहेज के कैसे हो गई, मैं अभी तक नहीं समझ पाया। बड़ी लड़की की शादी के लिए वर कई जगह ढूंढ़ने गया। अजीब अनुभव हुए। एक सज्जन मियानी में रहते थे, बोले– हमारे यहां ब्याह में सोने की थाली में खाना खाया जाता है। एक सज्जन कालेज में अध्यापक थे। मेरे यहां लड़की देखने आए। हिंदू-मुस्लिम समस्या पर ऐसी बहस हुई कि उन्होंने कहा कि "मैं कम्युनिस्ट के यहां शादी नहीं कर सकता अपने बेटे की।" लड़की की शादी के लिए अखबार में विज्ञापन दिया। देख-सुनकर शादी तय हो

गई। लड़के ने कहा, "दहेज-वगैरह तो नहीं चाहिए, लेकिन हमारे गांव के ब्राह्मण और रिश्तेदार आएंगे, उनको यथा-योग्य कुछ देना पड़ेगा। कुल मिलाकर पांच हजार रुपये लगेंगे।" मैंने ब्राह्मणों-रिश्तेदारों को कुछ न कुछ देकर रस्म-अदायगी की। बीच में लड़का आया, कहा, "बाबूजी, पांच हजार की रकम पूरी हो गई, अब किसी को कुछ मत दीजिए। देना पड़े तो अब आप हमसे रुपये लेकर दीजिए।" मैं बहुत प्रभावित हुआ। बाकी शादी में और कोई मांग नहीं हुई।

दूसरी लड़की की शादी बंगाली युवक से हुई। दोनों एक-दूसरे से परिचित थे। मैंने लड़के से पूछा, "कुछ दहेज-पहेज?" तो उसने कहा, "मेरे मां-बाप को गाली मत दीजिए। डोंट एब्यूज माई पैरेंट्स।" तो मुझे लड़कियों की शादी में कोई परेशानी नहीं हुई। यह जरूर था कि हमने बहुत धनी-मानी घर और लड़के नहीं ढूंढे। सीधे-सादे हों और अपना खाना-पीना चला सकें, बस। हमारे पास दहेज वगैरह देने को पैसे थे ही नहीं। बेटियां भी सीधी और समझदार थीं। नाना बना तो बहुत खुशी हुई। लगा कि नाना बनने का अपना मजा है।

बंगाली नातिन का गृह नाम खुशी है। बड़ी लड़की को तीन संतानें हैं। उनके गृह नाम हैं – गुन्नू, गिन्नी और गुनगुन। गुनगुन सबसे छोटे नाती हैं। बाकी दोनों नातिनें हैं। नातिनें तो सेवा करती हैं, लेकिन नातीराम (उम्र पांच वर्ष) कहते हैं, "आप रुपया किस बैग में रखते हैं? मुझे वन थाउजैंड दे दीजिए। आपके पास तो दो करोड़ रुपया है।"

उनकी सूचना का स्रोत क्या है, मैं नहीं जानता। हो सकता है किसी बच्चे ने अपने नाना के बारे में उनसे यह कहा हो। मेरी पत्नी को अपने घर में सास का पद न पा सकने की कमी कभी-कभी खलती है। मुझे भी कभी-कभी लगता है कि बुढ़ापे में साथ कोई लड़का रहता। लेकिन लड़के तो अब अमेरिका चले जाते हैं। मां-बाप के साथ रहनेवाले लड़के तो दिखाई ही नहीं पड़ते। सो यह कमी भी नहीं खलती। मेरे कई छात्र, जो अब स्वयं अध्यापक हो गए हैं, मेरा बहुत ख्याल रखते हैं।

श्रीमती त्रिपाठी अक्सर कहती हैं, "लड़का होता तो भी क्या ठिकाना कैसा होता? हमारे दामाद लड़कों-जैसे ही हैं। हमने लड़की देकर लड़का पाया। भगवान सबको ऐसे बेटी-दामाद दें।"

हां, बेटियों को पढ़ा देना चाहिए और असंतुलित धनाकांक्षी लड़कों से बचना चाहिए। ❐

मेरे सपनों की प्रतिरूप हैं मेरी बेटियां

मैत्रेयी पुष्पा (प्रसिद्ध उपन्यासकार)

'गर्भधारण करना स्त्री के लिए गौरव का विषय है या संतानोत्पत्ति के बाद औरत संपूर्णता प्राप्त करती है।' ऐसा मुझे उस समय बिल्कुल नहीं लगा था, जब मैं इस अनजाने रास्ते पर मां बनने की भूमिका में अनायास ही उतरने लगी थी। सच कहूं तो गर्भधारण करना मेरे लिए सदमे-जैसा धक्का था और प्रजनन के बाद उस प्रणय में

खलल-पड़ा, जिसे मैंने पति-रूपी पुरुष को प्रेमी की निगाह से देखते हुए सजाया-संवारा था। दरअसल मैं कालिदासकृत 'कुमार संभवम्' पढ़कर आई थी, पार्वती की प्रेम-तपस्या के फलीभूत होने की कल्पना से लैस, जिसे कार्तिकेय पैदा होने की कोई तमन्ना न थी। हो सकता है, यह 'उद्धव शतक' का प्रभाव रहा हो, जिसमें संतान के नहीं, प्रेम के संयोग और वियोग के सिलसिले थे। अतः अपनी गर्भावस्था देखकर मुझे दुःखभरा अचरज हुआ कि इसमें स्त्रियों के खुश होने की बात क्या है, जब शरीर हर कोण से अस्वाभाविकता दिखा रहा हो और डील-डौल बेडौल होने की दशा में बढ़ रहा हो। सच मानिए, मेरा मन बुझा-बुझा रहता, पति से झगड़े होने लगे। हां, परिवार के बड़े, बूढ़े-बूढ़ियां जरूर खुश थे कि वंश बेल का वह फल आनेवाला है, जिसे पुत्र कहा जाता है।

बेटी हुई। तवा बजा। 'बेटा होता तो थाली बजती', यह बात बताकर मुझे जतला दिया कि जिसे मैंने गर्भ में लादा है, जान लेवा तकलीफ सहकर पैदा किया है, यह करतब उस पड़ोसिन बहू के मुकाबले का नहीं, जिसकी कोख से बेटा हुआ है। बेटी के जन्म के साथ मेरा दर्जा घटा दिया गया और ताकीद की कि मैं जल्दी से जल्दी बेटा पैदा करके स्त्री-जन्म की वह मंजिल पा जाऊं, जिसके लिए मैंने जन्म लिया है। पड़ोस के घर में बजनेवाली ढोलक और गीतोंभरे स्वरों से मेरा आंगन खाली था। कुंआ पूजन के लिए औरतें चलीं और ढोल बजा, मेरे सीने में धमक लगी। मेरी आंखें भर आईं। रिवाज है या अपमान है यह? संस्कार या तिरस्कार? क्या मैंने कम पीरें सही थीं? बेटा और बेटी की जन्म-प्रक्रिया एक-सी होती है, हम सब जानते हैं, फिर मेरी-जैसी मांएं सजा के रूप में एकांत के सन्नाटे क्यों काटती हैं? इस 'क्यों' का उत्तर परिवारीजन, सगे-संबंधी और मित्र लोग हमको समझा रहे थे कि वे आकर कुछ न बोल रहे थे। 'कोई बात नहीं' कहकर बता रहे थे कि कितनी-कितनी बातें हैं संकटपूर्ण, जो बेटी के जन्म से लिपटी हैं। यह जन्म उल्लास और उत्साह का विषय नहीं, अभिशाप-सा उपहास का रूप है।

कोई बताए कि अपनी गोद में पड़े अभिशाप को मैं किस हिम्मत से पालती? कोख का दर्द मंद नहीं हो पाया कि छाती में दर्द उठने लगा। आगे भी लड़की हुई तो? मेरे पास बेटा पैदा करने का कोई उपाय है? न जाने किन अंधेरों में भटक रही थी कि अचानक सीने में दूध उमड़ आया, जैसे बच्ची ने ही उसे पुकारा हो। मैं न भी पाल पाऊं तो कुदरत उसे पालेगी, जैसे पड़ोस की स्त्री के बेटे को पाल रही है। एकाएक मेरा मुरझाया चेहरा खिला, क्योंकि दूध ने मेरा कलेजा सींच दिया था। दूध की फुहारें बच्ची के नन्हे होंठों पर लहराईं, मैंने आंचल ओढ़ लिया। अब मैं बच्ची के साथ गुप्पा-गुप्पी एकमएक थी। यों हमारा रिश्ता पनपा, जिसे नैसर्गिक हवा-पानी ने पुष्ट किया। अभिन्नता ऐसी, जैसे दो शरीर एक प्राण।

मैं और नम्रता विपरीत हवाओं के सामने थे, क्योंकि उसके बाद उसकी दो बहनें और पैदा हो गईं। लोग लड़कियों की गिनती करना 'दो' के बाद ही भूल जाते हैं। अतः हम जहां जाते, लड़कियां गिनी जातीं। एक-दो-तीन··· और चौथी कहां है? सुना था कि पांच···! तीन बेटियों के साथ मां का आना-जाना भी मुहाल हो गया। हमने ऐसे सामाजिक उत्सव त्याग दिए, जहां मुझे लड़कियों की मां और लड़कियों को अपने लड़कीपन के लिए इस कारण लज्जित होना पड़े कि हमारे पास एक लड़का नहीं था।

नम्रता पढ़ने लायक हुई और मैं पढ़ाने के लिए तैयार । बच्चे शायद विपरीत स्थितियों से लड़ने का माद्दा सबसे अधिक रखते हैं। नम्रता दी गई स्थितियों के खिलाफ थी, क्योंकि जब मैंने इसे हिंदी की किताब से 'लेम्बरेन का अस्पताल' नाम का पाठ पढ़ाया, वह डॉक्टर स्वाइत्जर से बहुत प्रभावित हुई, जिन्होंने मुर्गीखाने में अस्पताल खोला था। 'तुझे डॉक्टर बनना है।' मेरे यह कहने के पहले शायद डॉक्टर बनने का सपना वह पाल चुकी थी। हो सकता है कि अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में रहने से उसमें वे संस्कार नहीं पड़ पाए, जो लड़की के लिए हमारे यहां तय किए गए हैं। अब मैं यह कहूं कि मैंने

जो कहा, नम्रता ने अभिमन्यु की तरह सुना तो भी गलत न होगा; क्योंकि लड़कियों के ऊपर हुई छींटाकशी से वह आजिज आ गई थी।

मेरा सहयोग इतना ही रहा कि मैं रातभर जागी और वह रातोंरात पढ़ी। उसने मेहनत से वह मुकाम पाया, जिसका सपना मेरी आंखों ने उन रातों में देखा था, जब मैं लड़की पैदा करने के लिए अपमानित हुई थी। क्या इसलिए ही नम्रता ने मेरा घर सम्मानों से भर दिया? साथ ही अपनी छोटी बहनों को राह दिखाती गई। वही राह, जिस पर अब तक लड़के चलकर योग्य और कुलदीपक माने गए हैं।

आज जब वे ही लोग इन तीन डॉक्टर बहनों को देखते हैं तो मैं अनचाहे ही उस अतीत से गुजर जाती हूं, जिसके अंधेरे में हम चारों ने संकल्प लिए थे।

मुझे नहीं पता, बेटे क्या और कितना करते? मैं तो इतना ही बता सकती हूं कि बेटियां मां-बाप के लिए न जाने कहां-कहां से गुजर जाती हैं। मैं शर्मसार हूं उस दिन के लिए, जब नम्रता का जन्म-दिवस तवा बजाकर शोक दिवस-सा मनाया गया था। हां, अब उनकी शादियां हुईं, शहनाइयां बजीं, जैसी कि परंपरा है, मगर वही रिवाज घटित नहीं हुए, जो बेटी के जन्म और जीवन को अभिशाप बनाते हैं यानी कि विदा। उनके डॉक्टर पति आ गए। वे अपने-अपने घरों में रहने लगीं, मगर इतनी ही दूरी पर, जहां से मम्मी दिखती रहे और जहां से पलक झपकते ही मां-बाप के पास पहुंच जाएं, जहां से एक-दूसरे का भरोसा मिले। गांव से लेकर शहर तक सुनती आई थी- "बेटी सौ साठ, तबहू बबा की नाठ।" कैसे मुहावरे-कहावतें बनाए गए हैं हमारे यहां, जो बेटी के अस्तित्व को सिरे से खारिज करते हैं। मैं जब नम्रता, मोहिता और सुजाता के आत्मविश्वास-भरे निर्विकार चेहरे देखती हूं तो एक बार फिर सोचती हूं- ये वही हैं, मेरी आकांक्षाओं, मेरे सपनों के प्रतिरूप, रूढ़ियों को पलटती हुई बेटियां। ❐

मैं बेटी के कारण ही मानवीय बना

पंकज बिष्ट (प्रसिद्ध कथाकार एवं संपादक)

मैं अपनी बेटी से उसके जन्म लेते ही नहीं मिल पाया था। मेरी पत्नी ने मुझे एक के बाद एक चिट्ठियों में लिखा था, "तुमने अपनी बेटी के इस दुनिया में आंखें खोलने के शुरुआती दिनों को न देखकर जो 'मिस' किया है, उसकी कल्पना भी तुम नहीं कर सकते। तुम अंदाजा नहीं लगा सकते कि वह कितनी सुंदर है? वह किस तरह से आंखें खोलती है? जब वह तुम्हारी-जैसी, अपनी छोटी-छोटी आंखों से दुनिया को देखती है, मुझे हर चीज नई नजर आने लगती है। वह सोते में मुस्कुराती है, मैं हैरान रह जाती हूं कि आखिर क्या है उसकी मुस्कुराहट का राज? जब वह प्रसन्नता में अपने हाथ-पांव चलाती है और गूं-गूं करती है तो सृष्टि की रचनात्मकता का परमानंद महसूस होने लगता है, या जब वह भूख के खिलाफ आवाज बुलंद करने के लिए अपने हाथ-पांव चलाती है और रोती है, मुझे भूख की तात्कालिकता का एक नया ही अर्थ समझ में आने लगता है।" ये शब्द यथावत मेरी पत्नी के नहीं हैं पर ये बातें हैं उसी की। उसका यह उलाहना मैं कभी भूला नहीं। मेरी बेटी का जन्म अपने ननिहाल में हुआ था और मुझे वहां जाने में यानी अपनी बेटी से मिलने में तीन महीने की देरी हो गई थी।

वह डेढ़-दो साल की रही होगी, जब उसकी नानी ने उसे लोगों को प्रणाम करना सिखाया था। मैं उसे कंधे पर बैठाकर घुमाने ले जाता। रास्ते में जो मिलता, वह सबको प्रणाम करती चलती थी। मैं मजाक में कहता– बेटा, कुत्तेजी को भी प्रणाम कर दो तो वह कुत्ते को भी प्रणाम कर देती थी। गाय को, यहां तक कि वह सूअर को भी, प्रणाम करती चलती थी।

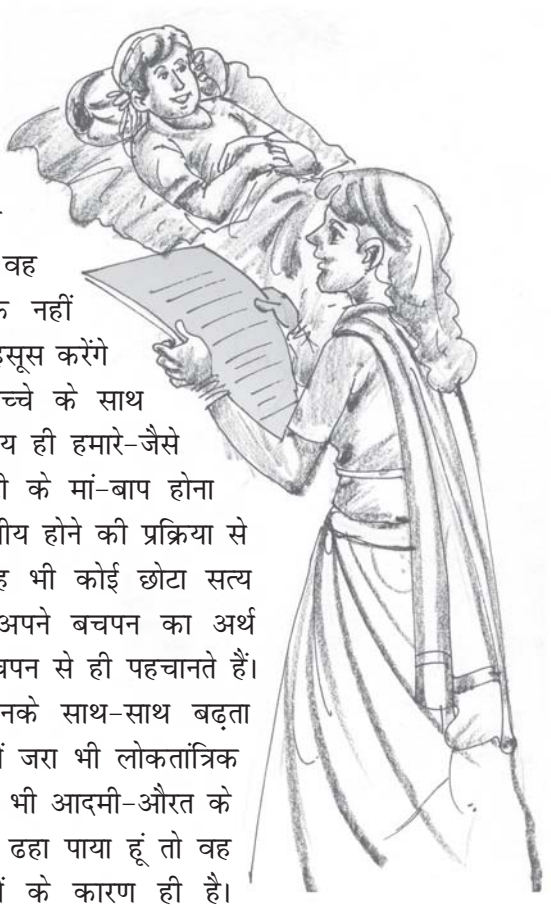

हमारे मित्र आनंद प्रकाश ने बेटी होने पर मुझे बधाई देते हुए कहा था, "जिस आदमी की बेटी नहीं है वह आदमी लोकतांत्रिक नहीं हो सकता। आप महसूस करेंगे कि आप अपने बच्चे के साथ बढ़ रहे हैं।" निश्चय ही हमारे-जैसे रूढ़ समाज में बेटी के मां-बाप होना एक बहुत ही मानवीय होने की प्रक्रिया से गुजरना है और यह भी कोई छोटा सत्य नहीं है कि हम अपने बचपन का अर्थ अपने बच्चों के बचपन से ही पहचानते हैं। इसलिए मैं भी उनके साथ-साथ बढ़ता चला गया। अगर मैं जरा भी लोकतांत्रिक हो पाया हूं या जरा भी आदमी-औरत के भेद की दीवार को ढहा पाया हूं तो वह मात्र अपनी बेटियों के कारण ही है। अगर शुरुआती तीन महीने छोड़ दें तो उसके बाद मैं अपनी बेटी के बढ़ने के हर पल का सजग पर्यवेक्षक ही नहीं रहा हूं, बल्कि उसके साथ ही बढ़ता-विकसित होता रहा हूं। जब वह चलने लगी तो मैं अक्सर उसके लिए इस कदर चिंतित रहता था कि कहीं वह गिर-गिरा न जाए। मैं दफ्तर में बैठा अक्सर बेचैन हो जाया करता था और यों ही घर फोन कर दिया करता था। पर मंशा सिर्फ इस चिंता से मुक्त होने की रहती कि सब ठीक है? यानी बेटी ठीक है? जब वह आठ-नौ साल की रही होगी, खेलते हुए दीवार से जा टकराई थी और उसने अपनी नाक तोड़ ली। बच्चों की पीड़ा जिस तरह द्विगुणित हो

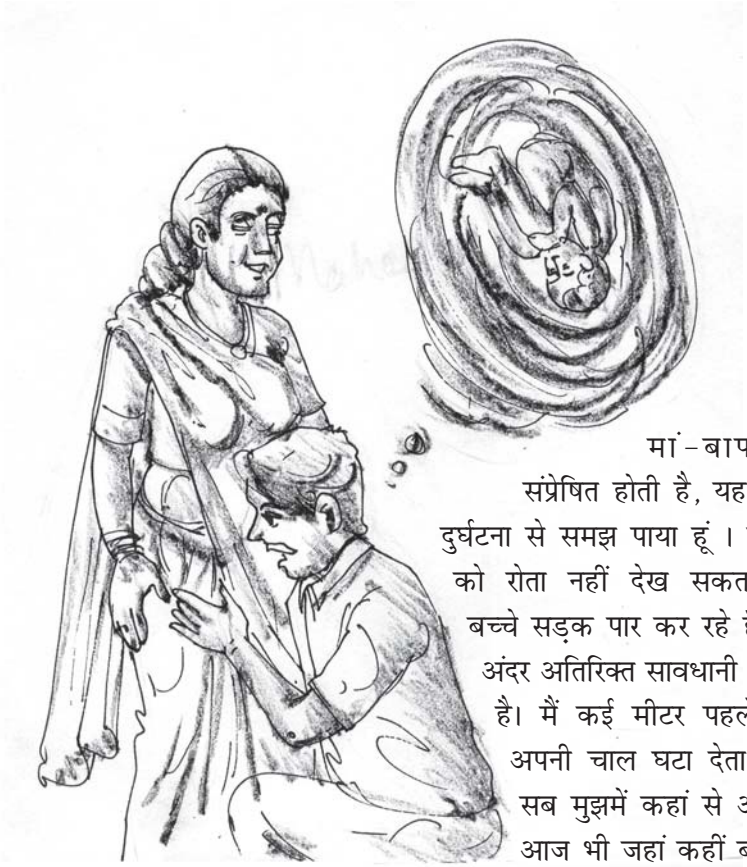

मां-बाप तक संप्रेषित होती है, यह मैं उसी दुर्घटना से समझ पाया हूं । मैं बच्चों को रोता नहीं देख सकता। अगर बच्चे सड़क पार कर रहे हैं तो मेरे अंदर अतिरिक्त सावधानी आ जाती है। मैं कई मीटर पहले से ही अपनी चाल घटा देता हूं। यह सब मुझमें कहां से आया? मैं आज भी जहां कहीं बच्चों को खेलता हुआ देखता हूं बेइंतिहा परेशान हो उठता हूं, "अरे भई बच्चो, संभल के खेलो।" आप कह सकते हैं, मैं लोकतांत्रिक ही नहीं, आदमी भी संभवत: बेटी के कारण बना।

वह 18-19 साल की रही होगी कि एक दिन बुलबुल का एक घायल बच्चा न जाने कहां से हमारे आंगन में आ गिरा। गुड़िया उसकी हरसंभव सेवा-सुश्रुषा में लग गई। एक दिन जब मैं दफ्तर से लौटा तो घर में कोहराम मचा हुआ था। पता चला, बुलबुल का बच्चा मर गया है। गुड़िया बेइंतहा दु:खी थी और मुझे देखकर फफक-फफककर रोने लगी थी। मैं उसे मुश्किल से ही समझा पाया था।

पिछले साल मार्च की बात है। मैंने महसूस किया था, इस बार मौसम जल्दी बदल गया है और आंधी समय से पहले ही चलने लगी है। रह-रहकर बालकनी में लगी हवा से बजनेवाली फुंदने-सी घंटी जिसे अंग्रेजी में 'विंड चाइम' कहते हैं, रह-रहकर बज उठा करती थी। उस झनकार में जो बेचैनी होती थी, मैं उसे बता नहीं सकता। न पढ़ पाता, न लिख पाता। इसके बजते ही मेरी आंखों के आगे गुड़िया नाचने लगती थी। यह घंटी गुड़िया ने ही खरीदकर लगाई थी। सिर्फ दो महीने पहले, फरवरी के शुरू में उसका विवाह हुआ था और पिछले कुछ महीने, कहना चाहिए अक्टूबर 2003 से, जब से उसके विवाह की तिथि तय हो गई, जिस भावनात्मक उथल-पुथल से गुजरना पड़ा उन्हें सिर्फ वहीं मां या पिता समझ सकता है जिसके घर बेटी ने जन्म लिया है। वह इसी शहर में है, मात्र आध घंटे की दूरी पर। पर अब वह बच्ची नहीं है। उसकी जिंदगी ने एक नई और स्वतंत्र राह पकड़ ली है, जिसे आगे जाना है। अब हमारी सलाह तो हो सकती है, मदद भी हो सकती है, पर हस्तक्षेप नहीं रहा है।

इधर हमारे घर में एक मेहमान आया हुआ था। सिर्फ एक महीने का। उसके चेहरे को देखकर चकित हुए बिना नहीं रह सकते। किसी सिद्धहस्त चित्रकार ने बहुत ही साफ्ट पैंसिल से बहुत ही नफासत से हल्की भौंहों को रचा हो। उसकी गाल की गोलाइयों को, उसकी ठोड़ी को, उसके कोमल पर सजग पलकों को, सिर्फ एक हल्की रेखा से बहुत ही सावधानी से बनाया गया है। ये मेरी बेटी की बेटी है। उन पलकों में आंख के बढ़ते नंबर के बावजूद महीन शिराओं का जाल मैं देख पाता हूं। इन बंद पलकों में न जाने कौन-कौन से सपने हैं? पर इनमें संभवतः उसकी मां का भी वह सपना अवश्य शामिल होना चाहिए जो हर किसी को पीड़ा से मुक्त देखना चाहता है। मुझे लगता है, यह लड़की वाचाल होगी।

मैं कहता हूं, "बेटा बोलो, कुछ तो बोलो! क्या बात है!" और वह हंस देती है। उसकी नाक के नीचे के होंठ पर उभरे विदर को तब देखिए, जब वह बोलने का प्रयत्न करती है। दो माह की बच्ची किस

प्रयास से अपने होंठों को हिलाती है, उन्हें मोड़ती है। जितना वह प्रयत्न करती है, वह आपको वात्सल्य की अजस्र धारा से सराबोर कर देता है। मेरी मां कहा करती थीं, "नहीं बेटा, इतने छोटे बच्चे को बोलने के लिए नहीं तरसाते। पाप लगता है।" पर मैं जानता हूं, यह आदमी के विकास की वह चमत्कृत करनेवाली गति है जिसने उसे प्रकृति का सबसे अद्‌भुत प्राणी बनाया है। एक मायने में यह सृष्टि है ही इसलिए क्योंकि इसमें मानव नाम का एक प्राणी है और यह सृष्टि रहेगी ही इसलिए कि इसमें नर-नारी दोनों रहेंगे।

मैं अपने इस मेहमान से, जो एक महीने का आया था और दो महीने का होकर अपने मां-बाप के घर चला गया, समझ पाया हूं कि क्यों मेरी पत्नी मुझसे एक अर्से तक शिकायत करती रही कि मैंने अपनी बेटी के शुरुआती दिन न देखकर क्या गंवाया था। जब वह पेट में थी मेरी पत्नी कहा करती थी, देखो कितनी उथल-पुथल हो रही है। वह अक्सर अपने स्टैथो को मेरे कान पर लगाकर उस अजन्मे शिशु की धड़कन सुनाती थी। वह आवाज दूर से आते मेहमान के कदमों की निश्चित पर मंद आवाज थी, जो कई अर्थ लिए थी। उनमें से एक अर्थ जो संभवतः सबसे गूढ़ था, आज मेरी समझ में आ पाया है। वह धड़कन कहती थी, "सुनो पिता! मैं आ रही हूं। इस दुनिया पर मेरा भी अधिकार है।"

मैं कहना चाहता हूं, "हां बेटा, उतना ही अधिकार है जितना मेरा।" ❐

बेटी के जन्म की बात सुन मैं उछल पड़ा था

प्रयाग शुक्ल (कवि-कथाकार, कला-समीक्षक)

संयोगवश मेरा और मेरी पत्नी ज्योति, दोनों का ही जन्म कोलकाता का है और मेरी दोनों बेटियां – अंकिता और वर्षिता – भी कोलकाता में ही जन्मी हैं। जब उनका जन्म हुआ तो हम रहते दिल्ली में ही थे, पर ज्योति की बड़ी बहन रूबी दी, यानी रविंदर कौर अहलूवालिया, जो आजीवन अविवाहित रहीं, कोलकाता में रहती थीं। सो उनके आग्रह और प्रेम का ही यह नतीजा था कि प्रसव का वक्त

आने से महीने-दो महीना पहले ही ज्योति कोलकाता चली जाती थीं। इन तथ्यों की याद यहां इसलिए कर रहा हूं कि हमारी दोनों ही बेटियों को न सिर्फ उनका अत्यधिक लाड़-दुलार मिला, उस वक्त उनके साथ जो अध्यापिकाएं पढ़ा रही थीं और जो लड़कियां वहां पढ़ रही थीं और छात्रावास में ही रहती थीं, उनका भी प्रेम और संग-साथ मेरी दोनों बेटियों को खूब मिला। याद नहीं पड़ता कि वहां भी किसी ने हम पर तरस खाकर कहा हो कि "अरे, बेटी हुई है" या "अरे, फिर बेटी!"

इस स्थिति का हमें बहुत लाभ हुआ। जहां तक हम दोनों का सवाल है, हमें तो न तब, न फिर बाद में कभी यह लगा कि हमारे दो बेटियां ही क्यों हैं, बेटा क्यों न हुआ? दूसरी बेटी के जन्म के समय भी मेरी पत्नी मुस्कुरा ही रही थीं। बड़ी बेटी के जन्म के समय मैं कोलकाता में ही था। दूसरी के जन्म के समय दिल्ली में था। यह 1971 की बात है। पर तब भी तार मिलते ही मैं उछल-सा पड़ा था और उस वक्त घर में काम कर रही हमारी नौकरानी गुड्डो, मेरे उछलने की आवाज से कुछ हतप्रभ होकर बर्तन-कपड़े धोना छोड़कर कमरे में यह झांकने चली आई थी कि अचानक मुझे हुआ क्या है। उस वक्त घर पर और कोई था नहीं, सो उसी से मैंने अपनी खुशी का साझा यह कहकर किया था कि "गुड़िया (अंकिता) की छोटी बहन आ गई है।" हमारी दोनों बेटियों में कोई ढाई साल का अंतर है और वे साथ-साथ बढ़ी-पढ़ी, खेली हैं और दोनों को ही एक ही स्कूल– सरदार पटेल विद्यालय– में शिक्षा मिली है, जिसकी प्राचार्या विभा पार्थसारथी की और विद्यालय के संस्थापक-प्राचार्य रघुभाई नायक की कीर्ति शिक्षा-जगत में दुहराई जाती है।

कभी-कभी यह सोचता हूं कि यह कितना अच्छा संयोग रहा है कि हमारी दोनों बेटियां, अपने बचपन में गर्मी की छुट्टियों में कोलकाता में 'श्री शिक्षायतन' में अपनी मासी के पास जाकर रहती थीं बरसों-बरस और दिल्ली के एक अच्छे स्कूल में पढ़ती थीं। बेटी और बेटे में फर्क न करने की शुरुआत आधुनिक काल में शिक्षा और समाज-सुधार के आंदोलनों से ही तो हुई और उन सबके प्रति मन में गहरा आदर-भाव

जागता है जिन्होंने स्त्री-शिक्षा पर बल दिया, पर्दा प्रथा हटाई और स्त्रियों के उन्नयन में गहरी भूमिका अदा की। इस तथ्य की याद इसलिए जरूरी है कि हमारी पीढ़ी को भी अगर समाज में स्त्री को बराबर अवसर दिए जाने की यह पृष्ठभूमि और समझ न मिली होती तो बेटी-बेटे के सवाल पर हमारा जो दृष्टिकोण बना, वह क्या ठीक इसी रूप में बन पाता! सो, यहीं याद सीताराम सेकसरिया की करना चाहता हूं जो गांधीवादी थे, समाज-सुधारक थे, स्त्री-शिक्षा के उन्नायक थे और जिन्होंने कोलकाता में पहले *मारवाड़ी बालिका विद्यालय* की स्थापना करके और फिर *श्री शिक्षायतन स्कूल-कालेज* के माध्यम से कोलकाता के हिंदी-भाषियों को प्रेरित किया था कि वे लड़कियों को भी शिक्षा दिलाने से चूकें नहीं। हमारा सौभाग्य कि ज्योति का परिवार

रूबी दी के माध्यम से उनसे जुड़ा और सीतारामजी के बड़े बेटे अशोक सेकसरिया से मेरी मैत्री होने के कारण, हमारे परिवार को भी उनके कुछ निकट आने का अवसर मिला। वह हमारे अंतरजातीय विवाह (1967) में शरीक हुए थे और हमने सिविल मैरिज की थी, सो विवाह के एक साक्षी के रूप में भी हमें उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। ज्योति सिख परिवार से है (उनके पिता रावलपिंडी से कोलकाता पहुंचे थे) और हम ठहरे उत्तर प्रदेश से जाकर बंगाल में बसे हुए उत्तर प्रदेशी। कोलकाता और बंगाल की यह याद भी प्रसंगवश ही कर रहा हूं। बंगाल की स्त्री-शिक्षा की स्थिति निश्चय ही बेहतर रही है और मेरे पिता की सोच में भी, जो बेटे-बेटियों में राई-रत्ती फर्क नहीं करते थे, कहीं न कहीं बंगाल की यही पृष्ठभूमि रही थी। उनका अपना उदार, स्वतंत्र-चेता, विवेकी स्वभाव तो इसके पीछे रहा ही होगा कि बेटों और बेटियों में कोई फर्क न किया जाए। यह उन्हीं के आग्रहों का नतीजा था कि हमारी तीन बहनों में से दो को एम.ए. तक की शिक्षा प्राप्त हुई। सो, हमारे और ज्योति, दोनों के ही घर का वातावरण भी कहीं-न-कहीं हमारी मानसिकता में, सोच में, आकर शामिल हुआ ही; अन्यथा यह सच है कि आज भी समाज के एक बहुत बड़े हिस्से में 'लड़का-लड़की' में फर्क किसी न किसी रूप में किया ही जाता है। दहेज हो या स्त्री -उत्पीड़न के बहुतेरे मामले हों, उनका लोप कहां हुआ है!

हां, यह देखकर निश्चय ही अच्छा लगता है कि आज स्त्री हर मोर्चे पर, हर क्षेत्र में सक्रिय है; अन्यथा हमारे बचपन और किशोरावस्था में तो सार्वजनिक क्षेत्रों में स्त्री की उपस्थिति थी ही नहीं। तब भला बैंकों, रेलवे रिजर्वेशन काउंटरों, डाकघरों, दफ्तरों, पुलिस-प्रशासन और दुकानों में, काम करती हुई स्त्रियां कहां दीख पड़ती थीं!

मेरी बड़ी बेटी अंकिता ने दिल्ली के *कालेज आफ आर्ट* से चित्रकला में बी.एफ.ए. किया है और वह चित्रकार सिद्धार्थ से विवाहित है। मेरी छोटी बेटी वर्षिता ने *जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय*

(जे. एन. यू) से स्पैनी भाषा में स्नातक की डिग्री प्राप्त की है और एक आस्ट्रेलियाई विश्वविद्यालय के लिए काम करने के बाद, अब स्वतंत्र रूप से इवेंट मैनेजमेंट के क्षेत्र में सक्रिय है। बेटे-बेटी में फर्क न करने के पीछे हमारी जो सोच रही है, वह अपनी जगह है, पर समय के साथ उस सोच को हमारी बेटियों ने भी कम पुख्ता नहीं किया है। सो, अगर हम अपने दृष्टिकोण पर कायम रह सके हैं तो इसका श्रेय बहुत दूर तक उनको भी है। और अंत में प्रणाम सुभद्रा कुमारी चौहान को, जिन्होंने अपनी *बालिका का परिचय* शीर्षक कविता की ये पंक्तियां मेरे कंठ में बसाई हैं-

यह मेरी गोदी की शोभा
सुख-सुहाग की है लाली
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली
मेरा मंदिर, मेरी मस्जिद
काबा-काशी यह मेरी
पूजा-पाठ, ध्यान जप-तप है
घट-घट वासी यह मेरी
परिचय पूछ रहे हो मुझसे
कैसे परिचय दूं इसका
वही जान सकता है इसको
माता का दिल है जिसका।

'माता' की जगह अपने लिए मैं 'पिता' शब्द को बिठा लेता हूं और अब तो 'नाना' को भी, क्योंकि अंकिता-सिद्धार्थ की तीन वर्ष की बेटी गौरजा भी तो हमारे जीवन में नई खुशियां लेकर आई है।

इसे भी कैसे भूल सकता हूं कि हमारे अग्रज चित्रकार मित्र ज. स्वामीनाथन हमसे अक्सर कहा करते थे कि "तुम्हारे दो बेटियां हैं, हमारे दो बेटे। एक बेटा ले लो और एक बेटी हमें दे दो।" हंसी-हंसी में कही गई, पर बात के गंभीर मर्म का स्पर्श पाकर हम सब भी

रस-सिक्त होते थे– वात्सल्य रस से। उस वक्त मैं और ज्योति क्या बेटियों के माता-पिता होने पर कुछ गर्वित भी महसूस नहीं करते थे! सो, आदर-प्रेम सहित स्मरण उन सब मित्रों का भी, जो बेटे-बेटी में फर्क न करने की मानसिकता को सींचते रहे हैं और 'बेटी' को 'बेटे' की तरह ही महत्व देते रहे हैं। ❐

बेटियां बाद में सहेलियां बन जाती हैं

अर्पिता सिंह (प्रसिद्ध चित्रकार)

हमारी सिर्फ एक लड़की है। हमारे साथ ऐसा बिल्कुल नहीं है कि हमें लड़का नहीं है और न ही होने की कोई कमी खलती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि लड़कियां बाद में जाकर मां की सहेली बन जाती हैं, लेकिन ऐसा लड़कों के साथ नहीं होता। मेरे जाननेवालों में सभी का अपनी लड़कियों से एक दोस्ताना संबंध है। मां और बेटी जो आपस में एक खुला व्यवहार रखती हैं, वो हमें लड़कों के साथ दिखाई नहीं पड़ता।

लड़कियां अपने मां-बाप के लिए जो कुछ भी करती हैं, दिल से

करती हैं। उनमें प्यार व लगाव तो होता ही है, वो चिंतित भी ज्यादा होती हैं। पहले लड़के कर्त्तव्य समझकर कुछ करते भी थे, पर अब वो भी नहीं करते। एक परिवार चलाने की जिम्मेदारी पहले लड़कों के हाथ में होती थी, पर अब कहां ऐसा है! लड़कियां भी अब सारा कुछ कर लेती हैं।

हमने आज तक अपनी लड़की को रोका-टोका नहीं। यह नहीं कहा कि यहां मत जाओ, ये मत पहनो या वो मत पहनो। कभी नहीं। मैंने भी अपने मां-बाप से यही पाया। हमारा एक भाई है, लेकिन मेरे मम्मी-पापा ने हम दोनों भाई-बहनों में कभी कोई फर्क नहीं किया। मेरे पापा तो मुझे बचपन में चार्ल्स डिकिंस, विक्टर ह्यूगो की बांग्ला में अनुवादित किताबें लाकर देते थे। सभी लोग कहते थे कि इतनी छोटी बच्ची को क्या समझ में आएगा। मैं पढ़ तो जाती थी, पर सचमुच समझ कुछ नहीं पाती थी। बहुत बाद में जाकर जब टीवी में धारावाहिक आने लगे तो मुझे उन किताबों की एक-एक घटना याद आने लगी।

इसलिए यह बहुत जरूरी है कि आपने अपना बचपन कैसे वातावरण में बिताया है। आप जैसे-जैसे बड़े होते हैं, वही मूल्य आप अपने बच्चों को देते हैं। हर व्यक्ति की अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि होती है और इसका प्रभाव उसके बच्चों पर भी दीखता है।

एक और बात कहना चाहती हूं। यह जो खतरा हमारे समाज में बना रहता है असामाजिक तत्वों का, बलात्कार का, तो आप बताइए कि इसके लिए क्या लड़की दोषी है? आप यह क्यों समझते हैं कि लड़की है तो इसके साथ बुरा हो सकता है। बुरा तो लड़कों के साथ भी हो सकता है। इसलिए हमें अपनी लड़कियों को यह बताना चाहिए कि जब उन पर खतरा आए तो उन्हें क्या करना है। मेरी भी लड़की कार से अकेले जाती-आती है। मन में डर तो जरूर रहता है, पर यह डर अगर हमारा लड़का भी होता तो भी रहता। हर दिन सड़कों पर तमाम दुर्घटनाएं होती रहती हैं। अब वह समय नहीं रहा कि लड़कियां

एक दायरे में सिमटकर रहें। बीसवीं सदी के शुरू में लड़की भले ही किचन में काम करती थी, लेकिन सरला बाला सरकार ने (बांग्ला साहित्यकार) कोयले से ही किचन की दीवारों पर लिखना शुरू किया। अब तो लड़कियों के लिए ढेर सारी संभावनाएं हैं। दुनिया बदल रही है। आज मेरी एक ही बेटी है और मुझे कभी भी लड़के की कमी महसूस नहीं हुई। ❐

बेटी का जन्म और भील का मांदल

राजेश जोशी (प्रसिद्ध कवि)

हमारी एक ही संतान है- एक बेटी। वह जब पैदा होनेवाली थी तब भी पत्नी को लगता था कि उसे बेटी ही होगी। खाने-पीने और दीगर आदतों से अनुमान लगानेवाली महिलाएं भी कहती थीं कि बेटी ही होगी। हमने उन्हीं दिनों दो बातें तय की थीं कि बेटी होगी तो हम कोई दूसरी संतान नहीं पैदा करेंगे। इसलिए मजाक में हमने उसका नाम छुट्टी रख लिया था। दूसरी बात यह कि हम उसके पैदा होने पर ऐसा कोई भी कर्मकांड नहीं करेंगे जिसमें लड़के और लड़की में अंतर किया जाता हो। मसलन लड़के के पैदा होने पर कांसे की थाली बजाई जाने और लड़की के पैदा होने पर सूप बजाने का एक रिवाज न जाने कब से चला आता है। हमें यह बात पसंद नहीं थी। इसलिए पहले ही हम इस बात का इंतजाम कर चुके थे कि ऐसा कोई भी 'रिचुअल' नहीं किया जाए।

अप्रैल का महीना था। सत्रह तारीख की रात का समय था। नर्सिंग होम के आसपास दूर-दूर तक सन्नाटा था। नर्सिंग होम भी छोटा-सा था, जचकी का यह एक ही मामला उस रात वहां संपन्न होना था। रात पौने एक बजे पहली रुलाई आपरेशन थियेटर के बाहर सुनाई दी। पत्नी

की बड़ी बहन ने रुलाई सुनकर सूचना दी। तभी न जाने कहां से बाहर के सन्नाटे को भेदता हुआ एक भील बड़ा-सा मांदल बजाता हुआ नर्सिंग होम के पास से गुजर गया। यह अद्‌भुत संयोग था। पत्नी अभी आपरेशन थियेटर से बाहर नहीं आई थी, इसलिए फिक्र भी लगी हुई थी; पर इतनी रात सन्नाटे को भेदता उस भील का मांदल का बजना उस समय इतना अच्छा लगा कि उसे व्यक्त करना कठिन है। बहुत देर तक और बहुत दूर तक उस मांदल का स्वर सुनाई पड़ता रहा।

हम पांच भाइयों में एक ही बहन है। वह भी मुझसे बहुत बड़ी है। उसकी शादी बहुत कम उम्र में ही हो गई थी। तब मैं बहुत छोटा था। इसलिए मैं बहुत कम समय ही अपनी बहन के पास रह पाया। वह जब-जब ससुराल जाने को होती, मैं बहुत रोता था। मन में कोई एक जगह थी, जिसमें दो चोटी बांधे, उछलती-कूदती एक छोटी-सी

लड़की की कमी थी। बेटी हुई तो लगा जैसे वह जगह पहली बार भर गई है। मुझे कभी नहीं लगा कि उसके बाद किसी बेटे की जरूरत बची है। पता नहीं किसका शेर था, बहुत पहले सुना था कि "अंगूर की बेटी ने उठा रक्खी है दुनिया सर पर। खैर गुजरी के अंगूर के बेटा न हुआ।" इस शेर की दूसरी पंक्ति का मेरे लिए कोई खास मतलब नहीं था। यूं भी बेटियों की घर में जितनी आबादी होती है मतलब कि चहल-पहल जितनी बेटियों की होती है, बेटों की नहीं होती। अंग्रेजी की एक दिलचस्प कहावत है, जिसका तर्जुमा कुछ इस तरह किया जा सकता है कि बेटा तब तक ही बेटा रहता है, जब तक न बन जाए वर, बेटी बेटी रहती है जीवनभर (सन इज सन टिल ही गेट्स वाइफ, डाटर इज डाटर फार होल लाइफ)। यह बात पूरी तरह चाहे सच न हो, फिर भी इसमें कहीं कुछ है जो सच के ज्यादा करीब है। लोगों

को लगता है कि बेटियां क्योंकि घर में ज्यादा रहती हैं, मां-बाप की छाया उन पर ज्यादा ही बनी रहती है। इसलिए लड़कियां स्वयं को अपने मां-बाप से कम स्वतंत्र कर पाती हैं। यह पूरा सच नहीं है। हमारी बेटी बड़ी हो रही थी और उसमें ऐसा बहुत कुछ था जो हम दोनों से अलग था। मैं और मेरी पत्नी दोनों ही बायोलाजी के विद्यार्थी रहे हैं और हमारी बेटी की रुचि सिर्फ गणित में है। मुझे याद है कि हमारे समय में आठवीं क्लास तक गणित पढ़ना आवश्यक होता था और मैं उसमें बहुत मुश्किल से पास हो पाता था। रट-रटकर गणित में किसी तरह मैंने आठवीं क्लास पास की थी, लेकिन हमारी बेटी को तो एक ही विषय पसंद था- गणित। वह न केवल खुद कठिन से कठिन सवाल हल कर लेती, बल्कि अपनी ही क्लास के सहपाठियों को गणित पढ़ा भी देती। मैं और मेरी पत्नी कभी उसे पढ़ाई के मामले में मदद नहीं कर पाए। वह खुद पढ़ लेती थी और अस्सी-पिच्चासी प्रतिशत अंक ले आती। मुझे तो कम से कम इतने नंबर देखकर आश्चर्य होता। हमारे समय में इतने अंक साधारणतया नहीं मिलते थे। नए जमाने की पढ़ाई में ये अंक भी कम माने जाते हैं। पर मुझे हमेशा लगता था कि जरूरत ज्यादा अंक पाने की नहीं, विषय को और अपने आसपास को ज्यादा बेहतर ढंग से समझने की है। हम लोग उसके रिजल्ट से हमेशा संतुष्ट थे। हमने कोई बड़ी अपेक्षाएं नहीं पालीं। हमने बेटी को भी हमेशा यही समझाने की कोशिश की। देखते ही देखते एक दिन वह इलेक्ट्रानिक्स एंड टेली कम्यूनिकेशन में इंजीनियर हो गई और उसी साल पहली बार में उसका *आई. आई. टी. पवाई मुंबई* में इंसट्रियल डिजाइनिंग में स्नातकोत्तर में एडमीशन हो गया। हमारे परिवार में इंजीनियर होनेवाली वह दूसरी लड़की थी, पर आई. आई. टी. में जानेवाली वह पहली लड़की थी। अभी वह इसी इंस्टीट्यूट में है। उसकी ड्राइंग बहुत अच्छी है। मैं कभी पेंटर होने के बारे में सोचता था, पर वैसी सुविधाएं हमारे समय में, कम से कम हमारे शहर में, नहीं थीं। उसकी ड्राइंग देखकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। अब वह बेटी से ज्यादा 'गार्जियन' की तरह है। जब भी छुट्टी में आती है तो कंप्यूटर

में आनेवाली दिक्कतों के बारे में समझाने लगती है।

मुझे सचमुच खुशी होती है कि मैं एक बेटी का पिता हूं। बेटी का पिता होने का सिर्फ एक ही दु:ख होता है कि एक दिन उसे विदा करना होता है। लेकिन बेटी होने के कारण उसके साथ कोई भी भेदभाव किया जाना मुझे सख्त नापसंद है। कालेज के दिनों में जब बेटी पाकेटमनी मांगती तो मैं उससे हर बार कह देता था कि जब मैं रिटायर हो जाऊंगा और तेरी नौकरी लग जाएगी तो मैं तुझसे पाकेटमनी लिया करूंगा। हम बाप-बेटी का रिश्ता ऐसा ही है…। ❐

बेटियां : हमारे जीवन की दीप्तियां

सविता सिंह / पंकज सिंह (प्रसिद्ध कवि)

कई वर्षों के प्रवास के बाद हम दिल्ली लौटे। 1991 के दिसम्बर के कुछ आखिरी दिन बचे थे। उन्हीं दिनों इस शहर में स्मृतियों और नए-पुराने संबंधों के धागे समेटते हुए हमने सोचा कि हमें दो संतानें चाहिए। दो इसलिए कि इकलौते बच्चे के एकाकीपन और उससे पैदा होनेवाली मनोवैज्ञानिक समस्याओं के विषय में हम जानते थे।

संयोग से हमारी दोनों संतानें लड़कियां हुईं। बड़ी बेटी मेधा 1992

के अक्टूबर में आई और उसके सवा दो साल बाद 1995 की फरवरी में दिव्या आई। वसुंधरा एंक्लेव के समरहिल स्कूल में क्रमशः सातवीं और पांचवीं में पढ़नेवाली मेधा और दिव्या हमारे जीवन की केंद्रीय दीप्तियों में हैं। हमारे समस्त रचनात्मक और सामाजिक उद्देश्यों में संवेदना के सूक्ष्म स्तर पर वे प्राणों-सी प्रवाहित महसूस होती हैं।

अभी हाल में एक दिन, दिव्या ने पास आकर कुछ झिझकते-से अंदाज में पूछा, "क्या आप बेटे चाहते थे और हम आ गईं? आपको कोई दुःख तो नहीं हुआ न?"

कहना न होगा कि हमें लगभग स्तब्ध कर देनेवाले दिव्या का यह सवाल उसके उस सामाजिक पर्यवेक्षण से उत्पन्न हुआ है जहां पल-पल समाज की वर्चस्वशाली पितृसत्तात्मकता और पुरुष प्रभुतावाद हर लड़की को होश संभालते ही चिंता, आत्मसंशय, हीन-भावना और तरह-तरह के असुरक्षा-बोध से भरने लगते हैं, हालांकि आधुनिक जीवन-दृष्टि, शिक्षा के प्रसार और जीवन-स्थितियों में नए उपकरणों के प्रवेश के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हुई है। महिला संतान के प्रति परंपरा पोषित पूर्वाग्रहों के बरक्स एक नए प्रकार के प्रबोधन का हस्तक्षेप भी अब दिखाई देने लगा है; पर भारतीय समाज की अर्द्ध सामंती-अर्द्ध औपनिवेशिक बनावट के कारण यहां रूढ़ियां बहुत धीरे-धीरे शिथिल हो रही हैं। उनके पूरी तरह खत्म होने की दिशा में अभी चुनौतियों और संघर्ष के अनेक चरण पार किए जाने बाकी हैं। अभी तो परिमाण के अंतर के साथ, लड़की का जन्म दुःख और समस्याएं ही पैदा करता है। उसका आना मानो हजार-हजार अपरिभाषित विपत्तियों का आना हो! कहीं परिवार के सामूहिक अवचेतन में यह बात घर किए रहती है कि लड़की है, इसलिए परायी है। नतीजतन उसकी सारी परवरिश तथाकथित अपनों के बीच किसी बाहरी व्यक्ति की तरह होती है, जिसे अपनी लैंगिकता के कारण कमतर इनसान का दर्जा कुबूल करना पड़ता है।

इन्हीं कारणों से 'कम से कम एक पुत्र तो चाहिए' वाली बात

ज्यादातर लोगों के मन में घुमड़ती रहती है। लेकिन इस कामना के पीछे काम करनेवाली कोई भी भ्रांति हमें धमका या रिझा नहीं पाई। हमने अपनी बेटियों को संपूर्ण और स्वाधीन मनुष्य बनाने का संकल्प लिया और उन्हें, अपनी मध्यवर्गीय भौतिक सीमाओं के बावजूद, सुंदर बचपन, अच्छी शिक्षा, अच्छा आहार और स्वस्थ मनोरंजन के साधन दिए हैं। इन सबमें वे फूलों की तरह खिल रही हैं– जिज्ञासाओं, तर्कों, विचारों, छोटी-छोटी शरारतों, सहज हास और गरिमा से भरी हुई। उनके होने में हम शामिल हैं और हमारे होने में वे। जितना सच यह है कि वे हमारे माध्यम से इस संसार में आकर विकास पा रही हैं, उतना ही यह भी सच है कि दायित्व के बोधवाले दो संवेदनशील मनुष्यों के तौर पर हमारे विकास में भी उनका बड़ा योगदान है। उन्होंने हमारी मानवीयता, करुणा और प्रेम को निरंतर उदग्र बनाए रखा है और यह प्रक्रिया अंतहीन है।

हमें वे लोग दयनीय और दुर्भाग्यग्रस्त जान पड़ते हैं जो बेटियों को कमतर मानते हैं। ❐

मेरी छोटी मां है कुंजम्मा

कुबेर दत्त (विख्यात कवि)

करीब चौदह साल पहले की बात है। नई दिल्ली के लोधी रोड के किनारे बने दाक्षिणात्य राममंदिर के गर्भगृह में दक्षिण भारतीय नृत्य-संगीत की उस दिन एक कार्यशाला थी। प्रमुख अतिथि थीं सुविख्यात अभिनेत्री और भरतनाट्यम की सुघड़ नृत्यांगना वैजयन्ती माला। वह एक दस साल की बच्ची का भरतनाट्यम नृत्य देख रही थीं। वैजयन्ती माला के भावप्रवण चेहरे पर दोनों आंखों से गंगा-जमुना बहने लगी। नृत्य संपन्न हुआ। बाल-नृत्यांगना ने साठ साल की नृत्यांगना के पैर छुए। साठ वर्ष की नृत्यांगना ने स्वागत-सत्कारस्वरूप

पहनाई गई फूलों की माला गले से उतारी और बाल नर्तकी के गले में डाल दी। उसका माथा चूमकर कहा, "नाट्यमणि!... हां, तुम नाट्यमणि हो।"

इस घटना के कुछ ही सप्ताह बाद... नई दिल्ली का सत्यमूर्ति आडिटोरियम... भारी भीड़...। वही दस साल की बच्ची। अचानक विश्वविख्यात गायक, संगीत-गुरु और कर्नाटक संगीत की अपनी ही सृजित रचनाओं को 'वायोला' (वायलिन से मिलता-जुलता वाद्ययंत्र) के तारों पर सजीव करनेवाले संगीत के जादूगर बालमुरली कृष्णा के सामने एक ऐसा प्रस्ताव रख दिया जिसे सुनकर वे हैरत में पड़ गए। बच्ची की इच्छा थी कि वह बालमुरली कृष्णा द्वारा संस्कृत में रचित एक पद "ओंकाराकारिणी, मदहंकारवारिणी, अवतुमाम' पर उनके समक्ष अपना भरतनाट्यम नृत्य प्रस्तुत करे। आश्चर्य से भरकर संगीत-गुरु ने पूछ ही लिया, "क्या कर पाओगी?" बच्ची ने आत्मविश्वास से भरकर कहा, "जरूर।"

...हाल की बत्तियां बंद... मंच पर प्रकाश-वृत्त। कैसेट बजने लगा- "ओंकाराकारिणी...।" पद समाप्त, नृत्य समाप्त...। मंच पर प्रकाश...। सभी ने देखा बालमुरली कृष्णा आनंदविभोर होकर रोए चले जा रहे हैं। वे कुर्सी से उठे और बच्ची के सामने पहुंचकर जो बोल पाए... वह था एक शब्द- "मां।" उस बालनर्तकी के सामने इतना बड़ा कलाकार हाथ जोड़े खड़ा था।

ऐसे ही कई दृश्य अदलते-बदलते गए... दृश्यों में बदलते गए मंच... परिधान... प्रकाश... रूप-सज्जा... वर्ष... मास... दिन... प्रांत... शहर... शोहरत... अखबारों में छपती समीक्षाएं... ग्रीन रूम में इंटरव्यू करते पत्रकार... टीवी के 'लाइव शो' में धीर-गंभीर प्रश्नों का उत्तर देती नृत्यांगना... फिल्मों के आफर- "सॉरी, नाट माई च्वाइस...।"

ऐसे ही अदलते-बदलते दृश्यों में कभी उभरती डा, कपिला वात्स्यायन कहती हैं, "इस नर्तकी ने धारा मोड़ दी है," कभी वयोवृद्ध जाने-माने समीक्षक सुब्बुडु उसे "महान देवदासी-नृत्यांगना-गुरु

लक्ष्मीकांतम्मा के आशीष का साक्षात रूप···", "नर्तकी मां" और "प्रथम शिक्षिका कमलिनी नागराज की अम्लान प्रतिकृति" बताते हैं।

समारोहों, सभाओं में उजास बिखेरती यह लड़की है- पुरवा धनश्री··· हमारी बेटी··· जिसका नाम 'पुरवा' उसके जन्म के पहले ही इस उम्मीद और सदिच्छा के साथ रख लिया गया था कि लड़की पैदा हो। जो हुई, और हुई भी धन तेरस के दिन···। बच्ची की मां कमलिनी संस्कृत, तमिल, हिंदी, अंग्रेजी की विदुषी। स्वयंसिद्ध नृत्यांगना।

कविता, गद्य, पत्रकारिता, रेडियो और दूरदर्शन के साहित्य-कला-परिसर में बत्तीस-तैंतीस वर्ष से तेल बेचता और फारसी पढ़ता, मैं, पुरवा धनश्री का पिता होकर गर्वित महसूस करता हूं। आज बेटी की ख्याति और तेजस्विता इतनी है कि जब परिचय कराया जाता है कि ये हैं पुरवा धनश्री के पिता तो सीना तन जाता है··· कद बढ़ जाता है और इसका सारा श्रेय यकीनन पुरवा को ही जाता है, जिसे मैं 'छोटी मां' 'कुंजम्मा' कहता हूं। उसने भी मुझे जना है··· तभी से, जब उसने पैदा होकर पहली बार मुझे टुकुर-टुकुर देखा था। जैसे-जैसे वह बड़ी होती गई मुझे लगता रहा जैसे मैं अपनी मां को बड़ा होता देख रहा हूं। आज वह चव्वन साल के बेटे की चौबीस साल की मां है। 1979 का साल 'अंतरराष्ट्रीय बाल वर्ष' था। पुरवा उसी साल अक्टूबर माह में पैदा हुई थी। अभी भी यह याद कर अपूर्व आनंद की लहरियां उठने लगती हैं, जब पुरवा के पैदा होने की सूचना पाकर बाबा नागार्जुन सुबह-सुबह बंदर टोपी पहने घर आए थे और नवजात पुरवा की मुलायम उंगलियों से अपनी दाढ़ी नुचवाई थी।

एक बार जब कवि केदारनाथ अग्रवाल अपने बेटे अशोक कुमार (जो दक्षिण भारतीय फिल्मों के जाने-माने कैमरामैन हैं) के घर, चेन्नई प्रवास में थे तो बालिका पुरवा, जो अपने नानी-नाना के साथ चेन्नई गई थी, कवि केदारनाथ अग्रवाल से मिलने उनके बेटे के घर गई थी और दो घंटे उनसे खूब गपियाई थी। उसने अपने कैमरे से उनके चित्र लिए थे। उनके पास बैठकर फोटो भी खिंचवाए थे। बाद में केदारजी ने भी

एक पत्र में इस प्रसंग का जिक्र करते हुए मुझे लिखा था, उसमें जो भाव थे वे इन पंक्तियों में जीवंत हैं-

"उत्तर-दक्खिन रास रचाएं, पुरवा बहै बयार···" ऐसी बेटी के बारे में लिखते रहने की कोई भी सीमा नहीं हो सकती। ❐

उसने कभी मुझे उदास नहीं होने दिया

रूपा वाजपेयी (प्रसिद्ध समाजसेवी)

हम बेटों के तो अभिभावक हैं नहीं, इसलिए हमारे पास इस-उस, यह या वह का कोई मापदंड नहीं है। मेरी मां के यहां भी हम केवल बहनें ही थीं; जबकि हमारी बेटी के पास तो यह मापदंड भी नहीं कि एक और बहन होने पर कैसा लगता होगा।

जब वह नहीं थी तब हमारा जीवन तरल-सरल था, मगर जब वह आई तो मालूम नहीं, पर बदल जरूर गया। मेरे जीवन की तो जैसे शैली ही बदल गई। अब पीछे मुड़कर देखती हूं तो लगता है, मैं तो जैसे और सब भूल ही गई। बच्ची को पालने का सुख काफी रंगों में झिलमिल इंद्रधनुष-जैसा होता है। उसे सजाने-संवारने का सुख, उसे पल-पल बड़ा होते देखने का सुख, मुझे तो अक्सर ऐसा लगता था, और लगता है कि अगर मैं पलभर के लिए भी उस पर से निगाह हटाती हूं तो वह कुछ और बड़ी हो जाती है। मैं उसके हर क्षण का हिस्सा चाहती थी। उसे स्कूल भेजने का चाव मुझे बहुत ज्यादा था, जबकि स्कूलों को लेकर 'क' (प्रसिद्ध कवि कैलाश वाजपेयी) का नजरिया बिलकुल अलग-थलग था। हमारे मित्र अक्सर हंसी में ताना भी देते कि तुम दोनों के रवैये से लगता है कि वक्त आने पर तुम दोनों घर में ही स्कूल खोल लोगे। इससे पहले कि ऐसा कुछ होता, हम दोनों ने स्वयं को मेक्सिको के एक बहुत बड़े घर में पाया। वहां हमारे घर पर डेविड लारेंजेन, पाज और प्रोफेसर बैशम आया करते थे। बेटी हमारी इतनी तेज कि हमसे कहीं पहले उसने स्पहानी भाषा सीख ली। डेविड अपनी बेटी 'सारा' को हमारे घर पर अक्सर छोड़ जाया करते!

'क' ने पहले कभी लखनऊ में शास्त्रीय संगीत सीखा था। उन्हें खूब सधे स्वर में अच्छी तरह गाना आता है। प्रोफेसर बैशम जब भी घर आते 'क' से कबीर के भजन गाने का इसरार जरूर करते ! एक दिन हमारी बेटी ने, जब उसकी सहेली 'सारा' आई हुई थी तो 'क' को गाने के लिए मजबूर किया। 'क' ने जब कबीर का पद गाया तो मुझे हैरत हुई कि बेटी भी सुर में सुर मिलाकर गा रही है। इसके बाद हम अमेरिका आ गए।

डलस यूनिवर्सिटी में, जहां मैं वालेस स्टीवंस पर अपनी डाक्टरेट पूरी करने आई थी, हमारी बेटी ने तो एक दिन कमाल ही कर दिया। अंग्रेजी विभाग में सूली पर चढ़े ईसा का एक चित्र लगा था। हमारी बेटी ने सेक्रेट्री से पूछा, "हू इज ही?" सेक्रेट्री ने जब बताया कि चित्र

उसके ईश्वर का है तो हमारी बेटी जोर से बोली, "इन्हें उतारो? आप सबने ईश्वर का यह हाल क्यों कर रखा है? ईश्वर को इतना दु:ख नहीं देना चाहिए।"

अब जब हमारी बेटी दुनिया के बेहतरीन से बेहतरीन संस्थानों में पढ़ने चली गई है तो हम सोचते हैं, हमने जाने कैसे दिया? मगर हम यह भी सीखे हैं कि हमारे करने से तो कुछ भी नहीं होता। हमें बहुत दिन तक यह भ्रम था कि उसके जीवन की बागडोर हमारे हाथ में है, मगर ऐसा बिल्कुल नहीं है। हमारे दिलों में चाहत चाहे जितनी तीव्र रही हो, विचारों से हमने उसे मुक्त ही हो जाने दिया। शायद इसीलिए उसने अपनी जिंदगी का हर अहम फैसला खुद ही लिया। हालांकि उसे भी यह भ्रम आज तक बना है कि वह अपने सारे फैसले हमारे द्वारा निर्धारित किए दायरों में ही लेती है। यही शायद वह तार है जिससे जिंदगियों के दायरे बनते हैं। बच्चे चाहे जितने 'फ्री ह्वीलिंग' हों, घूमते तो वे धुरी के आकर्षण क्षेत्र में ही हैं।

हमारी बेटी के साथ हमें हमेशा एक उत्साहपूर्ण जीवन जीने का सुख मिला, जिसमें लगा कि वह लगातार तेज रफ्तार से भागती और उड़ती है और हमें भी अपनी उड़ान का हिस्सा बना लेती है। उसके आने के बाद जो भी हमने किया या पाया, हमें सदैव ऐसा लगा कि वह उसी के सान्निध्य की देन है। मुझे तो यह भी लगा कि मां होने के साथ-साथ सखा-भाव या गुरु होने का धर्म भी मुझे निभाना पड़ा तो मैंने उसको सामने रखकर ही सीखा यह सब। वह कहती है कि मैंने उसे काफी सताया, उसे बहुत कुछ सिखाने के चक्कर में– पता नहीं, पर मैं तो उसे दुनिया की हर नियामत देना चाहती हूं शायद। जब वह पश्चिम चली गई तो मैं उसे अक्सर कहा करती थी कि दिन तो पहले मेरे द्वारे आता है। मैं उसमें से सब दु:ख-तकलीफ हटाकर उसे चमकाकर उसकी तरफ भेजती हूं, ताकि वह हर पल सुख से जीए।

उसने कभी भी किसी तरह से भी हमें उदास नहीं होने दिया। अपनी मेहनत व लगन से वह सारी सीढ़ियां चढ़ती चली गई, सारे

पर्वत लांघ गई। हमारा सिर उसने हमेशा शान से उठा रहने दिया। वह जो भी करती, हर किसी से बढ़-चढ़कर। हम जहां भी गए हमने प्रशंसा ही बटोरी उसके बहाने। हमारा स्नेह उसके प्रति जग-जाहिर है, क्योंकि उससे अक्सर पूछा जाता है कि वह बिगड़ैल कैसे न हुई इतने प्यारभरे माहौल में। वह हमेशा हंसकर एक ही जवाब देती, "इन्होंने तो बहुत कोशिश की मुझे बिगाड़ने की, मैं ही नहीं बिगड़ी।" हमारी बेटी है तो अकेली, मगर उसने हमारा अकेलापन हमेशा के लिए दूर कर दिया। हमारा घर उसके रहते हमेशा रंग और खुशबू से भरा रहता था। खिलखिलाहट से गूंजा रहता था। भाषाएं, कलाएं, संगीत– सभी की उपस्थिति रहती थी हमारे घर में। अब जब वह दुनियाभर में भ्रमण करती है तो जैसे हमारी जिंदगी का एक आयाम हवा में झूलता है उसकी राह तकता।

उसके शहर में प्रवेश करने के साथ जैसे सब कुछ प्रवहमान हो जाता है। जैसे वह कभी गई ही नहीं थी। जो जहां छोड़ जाती है, वहीं से फिर जिंदगी शुरू हो जाती है। भले ही वह दूर रहकर भी तारों से हमेशा हम दोनों से जुड़ी रहती है, फिर भी उसका आना खुशबू के झोंके की तरह होता है। उसके गुरुओं का आशीर्वाद और स्नेह उसे हर कहीं मिला है। हमारे-जैसे लोग उसे हर कहीं मिल जाते हैं। हमारी बुढ़ाती जिंदगियों को वह हमेशा नया बनाए रखती है। कभी पीछे छूट गए होने का एहसास नहीं होने देती हमारी बेटी – अनन्या। ❐

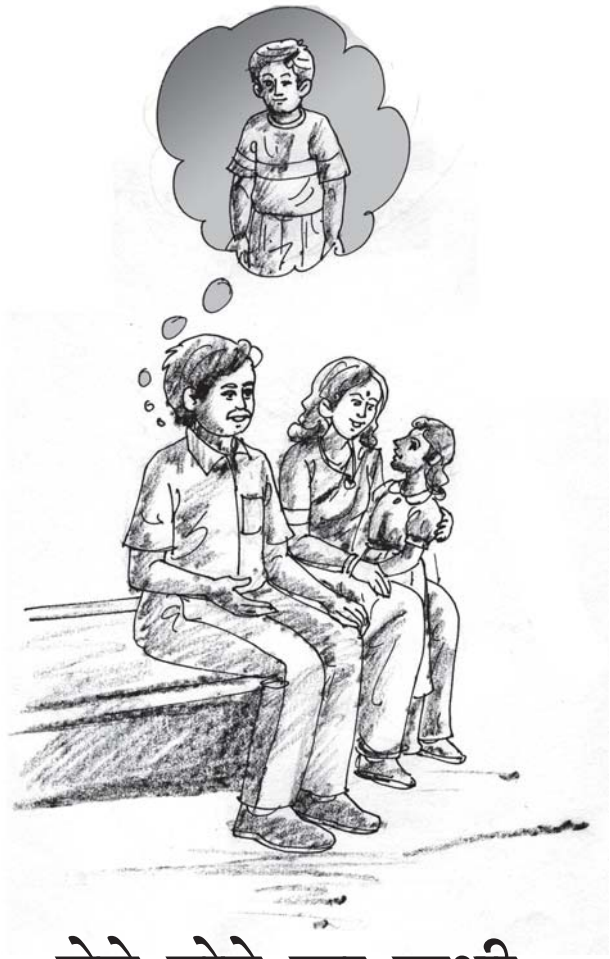

बेटे होने का कभी अफसोस नहीं हुआ लेकिन...

तेजिन्दर पॉल अग्रवाल (वरिष्ठ अधिकारी)

मैं और मेरे पति (प्रसिद्ध रंगकर्मी) देवेन्द्र राज अंकुर के – हमारी दो बेटियां हैं – अस्मिता और अमृता। अस्मिता इस साल नवम्बर में उन्नीस की हो जाएगी और अमृता जून में पूरे सात की। पहले सोचा

था कि हम दोनों और एक बेटी– परिवार पूरा है; लेकिन फिर देखा कि एक संतान को मां-पिता के अलावा पारिवारिक स्तर पर भावनात्मक लगाव और रिश्ते के लिए कम से कम एक सदस्य और चाहिए। धीरे-धीरे सोच-विचार करके अंततः उसके आगमन का निर्णय लिया गया। इसीलिए दोनों की उम्र में काफी बड़ा फासला है।

जब तक छोटी बच्ची का जन्म नहीं हुआ था, मन में कहीं यह इच्छा जरूर थी कि इस बार लड़का हो तो अच्छा होगा। ऐसी इच्छा किसी अंधविश्वास, वंश या सामाजिकता के लिए नहीं वरन बड़ी बच्ची की एक खास तरह की पूर्णता की दृष्टि से ज्यादा रही होगी।

इसे हम लोगों ने सालों-साल तब भी महसूस किया था जब उसने बारहवीं कक्षा तक की पढ़ाई लड़कियों के स्कूल में पूरी की थी। वहां की पढ़ाई-लिखाई चाहे कितनी अच्छी थी, फिर भी लगता था कि व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए सहशिक्षा बहुत जरूरी है। इस बात को हम लोगों ने उन परिवारों में भी महसूस किया है, जिनके यहां एक या दो सिर्फ बेटे ही बेटे हैं। उनके मन में कहीं यह दबी हुई आकांक्षा रहती है कि काश, इन बेटों के साथ एक बेटी भी होती तो कितना संतोष मिलता!

यदि उपर्युक्त पहलू को छोड़ दें तो हमें कभी भी आपस में बेटे की कमी का एहसास नहीं हुआ। हम लोगों ने उनका पालन-पोषण बेटा या बेटी मानकर नहीं, अपने परिवार के एक स्वतंत्र एकक के रूप में किया। अपने सीमित साधनों में हम जितनी अच्छी उनकी शिक्षा-दीक्षा और रख-रखाव कर सकते थे, अभी भी कर रहे हैं। जो वातावरण बड़ी बेटी को अपनी शिक्षा के दौरान नहीं मिल पाया था, छोटी बेटी के केस में हमने उसकी पुनरावृत्ति नहीं होने दी। लेकिन व्यक्ति, परिवार और समाज का कुछ ऐसा जटिल रिश्ता है कि जो बात आपके मन में न भी हो तो भी उसका एहसास आपको करा ही दिया जाता है।

जब भी राखी, भैया दूज-जैसे त्यौहारों पर समाज से बेटे या भाई की अनुपस्थिति पर बड़े-बूढ़ों के संवाद सुनने पड़ते हैं तो लगता है कि कहीं न कहीं उनकी बात में भी दम है। इसे हम दोनों ने एक और स्तर पर भी अनुभूत किया है। जब बड़ी बेटी को स्कूल में दाखिल कराया था तो उसे मात्र एक शब्द का नाम दिया था – अस्मिता। लेकिन स्कूलवालों के गले यह बात कभी नहीं उतरी कि बिना किसी सरनेम के सिर्फ एक शब्द का नाम भी हो सकता है। हर दूसरे-तीसरे दिन स्कूल से इंकवायरी आ जाती थी कि अस्मिता के आगे क्या लिखा जाना है? बहुत दिनों तक वे खुद ही लिखते रहे – अस्मिता डी. आर। हारकर हम लोगों को सरनेम के साथ उसका नाम पूरा करना पड़ा – अस्मिता अग्रवाल। यही कहानी छोटी बिटिया के साथ भी दोहराई न जाए तो उसकी शुरुआत ही अमृता अग्रवाल के साथ की।

मुझे लगता है कि हम, हमारे आसपास के लोग, कितने भी शिक्षित और आधुनिक हो गए हों, उनकी सोच में कोई बहुत ज्यादा अंतर नहीं पड़ा है। यह आधुनिकता बाहरी दिखावे, रहन-सहन और पहनावे में तो खूब दिखाई पड़ती है, लेकिन अपने भीतर हम अभी भी कहीं दकियानूसी और पिछड़े हुए हैं। यदि ऐसा नहीं है तो फिर बेटी हो या बेटा, इसे लेकर इतनी पाथा-पच्ची करने की क्या जरूरत है? आपकी जिज्ञासा का एकमात्र उत्तर यही है कि हम अपने व्यक्तिगत स्तर पर क्या सोच रखते हैं, यह हमारे लिए ज्यादा महत्वपूर्ण है। यकीन मानिए, अपनी बीस बरस की वैवाहिक जिंदगी में हमारे कितने भी झगड़े, बहसें या तर्क-वितर्क हुए हों, लेकिन उनमें कभी भी इस बात को लेकर अफसोस नहीं हुआ कि काश, हमारे यहां एक बेटा होता !

हम दोनों में एक आपसी समझ और एक-दूसरे के लिए दोस्ती और प्यार का जज्बा है, यही बात दोनों बेटियों की आपसी दोस्ती में है- जितना झगड़ती हैं, उससे कहीं ज्यादा एक-दूसरे को चाहती हैं और ख्याल रखती हैं। इससे ज्यादा एक सुखी परिवार को और क्या चाहिए? ❐

कविता

जवान लड़की का पिता होना

नरेंद्र गौड़

सुनो! लड़की जवान हो चली है
रोटी का कौर
दाल में तो डूबता है
नहीं आता अब उसमें स्वाद

पत्नी फिर पूछती है
उसके लिए कहीं कुछ
देखते क्यों नहीं

वह उस जबलपुरवाले बिंदाप्रसाद के
आवारा छोकरे किशोर का नाम ले
इसके पहले ही मैं थाली से उठ जाता हूं

बात चलाने में आखिर
हर्ज ही क्या है?
कहती हुई वह
हाथ धुलाने के बहाने
आंगन तक आती है

बेटी का जवान होना
मेरी परछाईं में शामिल हो गया है
रात को छत पर सोते हुए
गर्मी की उमस और बढ़ जाती है

छत पर करवटें बदलते
सोचता हूं
दिखाऊं बेटी को
देख वह रहा ध्रुवतारा
सप्तऋषि वह रहा

यह जवान बेटी का बाप
इसकी लड़की बी. ए. तक पढ़ी है
गृहकार्य में दक्ष है
सीना-पिरोना जानती है
कोई योग्य वर हो तो इसे बताओ
इसी तरह की और भी अनेक पीछा करतीं
आवाजों से दूर
बेटी का हाथ थामे अपनी नींद में
आकाशगंगा की सैर कराने निकल पड़ता हूं ❐

नव जनवाचन आंदोलन

देश के बहुत बड़े हिस्से में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का घटता अनुपात इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में अभी भी सामान्यतः लड़कियों के जन्म को अच्छा नहीं माना जाता है। उन्हें अभी भी अभिशाप माना जाता है। लेकिन क्या सचमुच बेटियां अभिशाप हैं? हमने अपने समाज के कुछ संवेदनशील वैसे रचनाकर्मियों से इस बारे में बातें कीं जिनकी बेटियां हैं। बेटियों के बारे में क्या है उनकी धारणाएं, पढ़िए इस पुस्तिका में उनके ही शब्दों में।

भारत ज्ञान विज्ञान समिति